कैवल्यमोक्ष कहते हैं ॥ १२ ॥ अब मुक्तिविषय में गोतमाचार्य्य के कहे हुए न्याय शास्त्र के प्रमाण लिखते हैं (दुःखजन्म) । जब मिथ्याज्ञान अर्थात् अविद्या नष्ट हो जाती है तब जीव के सब दोष नष्ट हो जाते हैं । उसके पीछे (प्रवृत्ति०) अर्थात् अधर्म, अन्याय, विषयासक्ति आदि की वासना सब दूर होजाती है । उसके नाश होने से (जन्म) अर्थात् फिर जन्म नहीं होता । उस के न होने से सब दुःखों का अत्यन्त अभाव हो जाता है । दुःखों के अभाव से पूर्वोक्त परमानन्द मोक्ष में अर्थात् सब दिन के लिये परमात्मा के साथ आनन्द ही आनन्द भोगने को बाकी रह जाता है । इसी का नाम मोक्ष है ॥ १ ॥ (बाधना०) सब प्रकार की बाधा अर्थात् इच्छाविघात और परतन्त्रता का नाम दुःख है ॥ २ ॥ (तदत्यन्त०) फिर उस दुःख के अत्यन्त अभाव और परमात्मा के नित्य योग करने से जो सब दिन के लिये परमानन्द प्राप्त होता है उसी सुख का नाम मोक्ष है ॥ ३ ॥

अथ वेदान्तशास्त्रस्य प्रमाणानि

अभावं बादरिराह ह्येवम् ॥ १ ॥ भावं जैमिनिर्विकल्पामननात् ॥ २ ॥ द्वादशाहवदुभयविधं बादरायणोतः ॥ ३ ॥ अ० ४ । पा० ४ । सू० १० । ११ । १२ ॥ यदा पञ्चावतिष्ठन्ते ज्ञानानि मनसा सह । बुद्धिश्च न विचेष्टते तामाहुः परमां गतिम् ॥ १ ॥ तां योगमिति मन्यन्ते स्थिरामिन्द्रियधारणाम् । अप्रमत्तस्तदा भवति योगो हि प्रभवाप्ययौ ॥ २ ॥ यदा सर्वे प्रमुच्यन्ते कामा येऽस्य हृदि श्रिताः । अथ मर्त्योऽमृतो भवत्यत्र ब्रह्म समश्नुते ॥ ३ ॥ यदा सर्वे प्रभिद्यन्ते हृदयस्येह ग्रन्थयः । अथ मर्त्योऽमृतो भवत्येतावदनुशासनम् ॥ ४ ॥ कठो० वल्ली० ६ । मं० १० । ११ । १४ । १५ ॥ दैवेन चक्षुषा मनसैतान् कामान् पश्यन् रमते ॥ ५ ॥ य एते ब्रह्मलोके तं वा एतं देवा आत्मानमुपासते तस्मात्तेषाꣳ सर्वे च लोका आत्ताः सर्वे च कामाः स सर्वाꣳश्च लोकानाप्नोति सर्वाꣳश्च कामान् यस्तमात्मानमनुविद्य जानातीति ह प्रजापतिरुवाच प्रजापतिरुवाच ॥ ६ ॥ यदन्तरापस्तद्ब्रह्म * तदमृतꣳ स आत्मा प्रजापतेः सभां वेश्म प्रपद्ये यशोऽहं भवामि ब्राह्मणानां

* "यदन्तरा तद्ब्रह्मेति" पाठ उपनिषदि ।

यशो राज्ञां यशो विशां यशोऽहमनुप्रापत्सि सहाहं यशसां यशः ॥ ७ ॥ छान्दोग्योपनि० प्रपा० ८ । खं० १२, १४ ॥ अणुः पन्था विततः पुराणो माꣳस्पृष्टो वित्तो मयैव । तेन धीरा अपियन्ति ब्रह्मविद उत्क्रम्य स्वर्गं लोकमितो विमुक्ताः ॥ ८ ॥ तस्मिञ्छुक्लमुत नीलमाहुः पिङ्गलं हरितं लोहितं च । एषपन्था ब्रह्मणा हानुवित्तस्तेनैति ब्रह्मवित्तैजसः पुण्यकृच्च ॥ ९ ॥ प्राणस्य प्राणमुत चक्षुषश्चक्षुरुत श्रोत्रस्य श्रोत्रमन्नस्यान्नं मनसो ये मनो विदुः । ते निचिक्युर्ब्रह्म पुराणमग्र्यं मनसैवाप्तव्यं नेह नानास्ति किंचन ॥ १० ॥ मृत्योः स मृत्युमाप्नोति य इह नानेव पश्यति । मनसैवानुद्रष्टव्यमेतदप्रमेयं ध्रुवम् ॥ ११ ॥ विरजः पर आकाशात् अज आत्मा महाध्रुवः । तमेव धीरो विज्ञाय प्रज्ञां कुर्वीत ब्राह्मणः ॥ १२ ॥ श० कां० १४ । अ० ७ । ब्रा० २ । कंडिका ११, १२, २१, २२, २३ ॥

भाषार्थ

अब व्यासोक्त वेदान्तदर्शन और उपनिषदों में जो मुक्ति का स्वरूप और लक्षण लिखा सो आगे लिखते हैं । (अभावं) व्यासजी के पिता जो वादरि आचार्य्य थे उनका मुक्तिविषय में ऐसा मत है कि जब जीव मुक्तदशा को प्राप्त होता है तब वह शुद्ध मन से परमेश्वर के साथ परमानन्द मोक्ष में रहता है और इन दोनों से भिन्न इन्द्रियादि पदार्थों का अभाव होजाता है ॥ १ ॥ तथा (भावं जैमिनि०) इसी विषय में व्यासजी के मुख्य शिष्य जो जैमिनि थे उनका ऐसा मत है कि जैसे मोक्ष में मन रहता है वैसे ही शुद्धसंकल्पमय शरीर तथा प्राणादि और इन्द्रियों की शुद्ध शक्ति भी बराबर बनी रहती है । क्योंकि उपनिषद् में (स एकधा भवति, द्विधा भवति, त्रिधा भवति) इत्यदि वचनों का प्रमाण है कि मुक्तजीव सङ्कल्पमात्र से ही दिव्यशरीर रच लेता है और इच्छामात्र ही से शीघ्र छोड़ भी देता है और शुद्ध ज्ञान का सदा प्रकाश बना रहता है ॥ २ ॥ (द्वादशाह) इस मुक्तिविषय में वादरायण जो व्यासजी थे उन का ऐसा मत है कि मुक्ति में भाव और अभाव दोनों ही बने रहते हैं । अर्थात् क्लेश, अज्ञान और अशुद्धि आदि दोषों का सर्वथा अभाव हो जाता है और परमानन्द, ज्ञान, शुद्धता आदि सब सत्य गुणों का भाव बना रहता है । इस में दृष्टान्त भी दिया है कि जैसे वानप्रस्थ आश्रम में बारह दिन का प्राजापत्यादि व्रत करना होता है उस में थोड़ा भोजन करने से क्षुधा का थोड़ा अभाव और पूर्ण भोजन न करने से क्षुधा का कुछ भाव भी बना रहता है । इसी प्रकार मोक्ष में भी

पूर्वोक्त रीति से भाव और अभाव समझ लेना । इत्यादि निरूपण मुक्ति का वेदान्त शास्त्र में किया है ॥ ३ ॥ अब मुक्तिविषय में उपनिषद्कारों का जो मत है सो भी आगे लिखते हैं कि (यदा पञ्चाव०) अर्थात् जब मनके सहित पांच ज्ञानेन्द्रिय परमेश्वर में स्थिर होके उसीमें सदा रमण करती हैं और जब बुद्धि भी ज्ञान से विरुद्ध चेष्टा नहीं करती उसी को परमगति अर्थात् मोक्ष कहते हैं ॥ १ ॥ (तां योग०) उसी गति अर्थात् इन्द्रियों की शुद्धि और स्थिरता को विद्वान् लोग योग की धारणा मानते हैं । जब मनुष्य उपासनायोग से परमेश्वर को प्राप्त होके प्रमादरहित होता है तभी जानो कि वह मोक्ष को प्राप्त हुआ । वह उपासनायोग कैसा है कि प्रभाव अर्थात् शुद्धि और सत्यगुणों का प्रकाश करनेवाला तथा (अप्ययः) अर्थात् सब अशुद्धि दोषों और असत्य गुणों का नाश करनेवाला है । इसलिये केवल उपासना योग ही मुक्ति का साधन है ॥ २ ॥ (यदा सर्वे०) जब इस मनुष्य का हृदय सब बुरे कामों से अलग होके शुद्ध हो जाता है तभी वह अमृत अर्थात् मोक्ष को प्राप्त होके आनन्दयुक्त होता है । (**प्रश्न**) क्या वह मोक्षपद कहीं स्थानान्तर वा पदार्थविशेष है ? क्या वह किसी एक ही जगह में है वा सब जगह में ? । (उत्तर) नहीं, ब्रह्म जो सर्वत्र व्यापक हो रहा है वही मोक्षपद कहाता है और मुक्त पुरुष उसी मोक्ष को प्राप्त होते हैं ॥ ३ ॥ तथा (यदा सर्वे०) जब जीव की अविद्यादि बन्धन की सब गांठें छिन्न भिन्न होके टूट जाती हैं तभी वह मुक्ति को प्राप्त होता है ॥ ४ ॥ (प्र०) जब मोक्ष में शरीर और इन्द्रियां नहीं रहतीं तब वह जीवात्मा व्यवहार को कैसे जानता और देख सकता ? (उ०) (दैवेन०) वह जीव शुद्ध इन्द्रिय और शुद्धमन से इन आनन्दरूप कामों को देखता और भोगता भया उस में सदा रमण करता है, क्योंकि उसका मन और इन्द्रियां प्रकाशस्वरूप हो जाती हैं ॥ ५ ॥ (प्र०) वह मुक्त जीव सब सृष्टि में घूमता है अथवा कहीं एक ही ठिकाने बैठा रहता है ? (उ०) (य एते ब्रह्मलोके०) जो मुक्त पुरुष होते हैं वे ब्रह्मलोक अर्थात् परमेश्वर को प्राप्त होके और सब के आत्मा परमेश्वर की उपासना करते हुए उसी के आश्रय से रहते हैं । इसी कारण से उन का आना जाना सब लोकलोकान्तरों में होता है, उन के लिये कहीं रुकावट नहीं रहती, और उन के सब काम पूर्ण हो जाते हैं, कोई काम अपूर्ण नहीं रहता । इसलिये जो मनुष्य पूर्वोक्त रीति से परमेश्वर को सब का आत्मा जान के उस की उपासना करता है वह अपनी सम्पूर्ण कामनाओं को प्राप्त होता है । यह बात प्रजापति परमेश्वर सब जीवों के लिये वेदों में बताता है ॥ ६ ॥ पूर्व प्रसङ्ग का अभिप्राय यह है कि

मोक्ष की इच्छा सब जीवों को करनी चाहिये । (यदन्तरा०) जो कि आत्मा का भी अन्तर्यामी है उसी को ब्रह्म कहते हैं, और वही अमृत अर्थात् मोक्षस्वरूप है, और जैसे वह सब का अन्तर्यामी है वैसे उस का अन्तर्यामी कोई भी नहीं, किन्तु वह अपना अन्तर्यामी आप ही है । ऐसे प्रजानाथ परमेश्वर के व्याप्तिरूप सभास्थान को मैं प्राप्त होऊं, और इस संसार में जो पूर्ण विद्वान् ब्राह्मण हैं उनके बीच में (यशः) अर्थात् कीर्त्ति को प्राप्त होऊं, तथा (राज्ञाम्) क्षत्रियों (विशाम्) अर्थात् व्यवहार में चतुर लोगों के बीच यशस्वी होऊं । हे परमेश्वर ! मैं कीर्त्तियों का भी कीर्त्तिरूप होके आप को प्राप्त हुआ चाहता हूं । आप भी कृपा कर के मुझ को सदा अपने समीप रखिये ॥ ७ ॥ अब मुक्ति के मार्ग का स्वरूप वर्णन करते हैं । (अणुः पन्था०) मुक्ति का जो मार्ग है सो अणु अर्थात् अत्यन्त सूक्ष्म है, (विततः) उस मार्ग से सब दुःखों के पार सुगमता से पहुंच जाते हैं, जैसे दृढ़ नौका से समुद्र को तर जाते हैं । तथा (पुराणः) जो मुक्ति का मार्ग है वह प्राचीन है दूसरा कोई नहीं । मुझ को (स्पृष्टः) वह ईश्वर की कृपा से प्राप्त हुआ है । उसी मार्ग से विमुक्त मनुष्य सब दोष और दुःखों से छूटे हुए, (धीराः)अर्थात् विचारशील और ब्रह्मवित्, वेदविद्या और परमेश्वर के जानने वाले जीव (उत्क्रम्य) अर्थात् अपने सत्य पुरुषार्थ से सब दुःखों का उल्लङ्घन करके, (स्वर्गं लोकं०) सुखस्वरूप ब्रह्मलोक को प्राप्त होते हैं ॥ ८ ॥ (तस्मिञ्छुक्ल०) अर्थात् उसी मोक्षपद में (शुक्ल) श्वेत, (नील) शुद्ध घनश्याम, (पिङ्गल) पीला श्वेत, (हरित) हरा और (लोहित) लाल ये सब गुण वाले लोक लोकान्तर ज्ञान से प्रकाशित होते हैं । यही मोक्ष का मार्ग परमेश्वर के साथ समागम के पीछे प्राप्त होता है । उसी मार्ग से ब्रह्म का जानने वाले तथा (तैजसः०) शुद्धस्वरूप और पुण्य का करने वाला मनुष्य मोक्ष-सुख को प्राप्त होता है, अन्य प्रकार से नहीं ॥ ९ ॥ (प्राणस्य प्राण०) जो परमेश्वर प्राण का प्राण, चक्षु का चक्षु, श्रोत्र का श्रोत्र, अन्न का अन्न और मन का मन है, उस को जो विद्वान् निश्चय करके जानते हैं वे पुरातन और सब से श्रेष्ठ ब्रह्म को मन से प्राप्त होने के योग्य मोक्षसुख को प्राप्त होके आनन्द में रहते हैं, (नेह ना०) जिस सुख में किंचित् भी दुःख नहीं है ॥ १० ॥ (मृत्योः स मृत्यु०) जो अनेक ब्रह्म अर्थात् दो, तीन, चार, दश, बीस जानता है वा अनेक पदार्थों के संयोग से बना जानता है वह वारंवार मृत्यु अर्थात् जन्ममरण को प्राप्त होता है, क्योंकि वह ब्रह्म एक और चेतनमात्रस्वरूप ही है तथा प्रमादरहित और व्यापक हो

के सब में स्थिर है। उसको मन से ही देखना होता है, क्योंकि ब्रह्म आकाश से भी सूक्ष्म है ॥ ११ ॥ (विरजः परआ०) जो परमात्मा विक्षेपरहित, आकाश से परम सूक्ष्म, (अजः) अर्थात् जन्मरहित और महाध्रुव अर्थात् निश्चल है ज्ञानी लोग उसी को जान के अपनी बुद्धि को विशाल कर और वह इसी से ब्राह्मण कहाता है ॥ १२ ॥

स होवाच। एतद्वै तदक्षरं गार्गि ब्राह्मणा अभिवदन्त्यस्थूलमनण्वह्रस्वमदीर्घमलोहितमस्नेहमच्छायमतमोऽवाय्वनाकाशमसङ्गमस्पर्शमगन्धमरसमचक्षुष्कमश्रोत्रमवागमनोऽतेजस्कमप्राणममुखमनामागोत्रमजरममरमभयममृतमरजोऽशब्दमविवृतमसंवृतमपूर्वमनपरमनन्तरमबाह्यं न तदश्नोति कञ्चन न तदश्नोति कश्चन ॥ १३ ॥ श० कां० १४। अ० ६। ब्रा० ८। कं० ८ ॥ इति मुक्तैः प्राप्तव्यस्य मोक्षस्वरूपस्य सच्चिदानन्दादिलक्षणस्य परब्रह्मणः प्राप्त्या जीवस्सदासुखी भवतीति बोध्यम्।

अथ वैदिकप्रमाणम्

ये य॒ज्ञेन॒ दक्षि॑णया॒ सम॑क्ता॒ इन्द्र॑स्य स॒ख्यम॑मृत॒त्वमा॑न॒श। तेभ्यो॑ भ॒द्रम॑ङ्गिरसो वो अस्तु॒ प्रति॑ गृभ्णीत मान॒वं सु॑मेधसः ॥ १ ॥ ऋ० अ० ८। अ० २। व० १। मं० १ ॥ स नो॒ बन्धु॑र्जनि॒ता स वि॑धा॒ता धामा॑नि॒ वेद॒ भुव॑नानि॒ विश्वा॑। यत्र॑ दे॒वा अ॒मृत॑मानशा॒नास्तृ॒तीये॒ धाम॑न्न॒ध्यैर॑यन्त ॥ २ ॥ य० अ० ३२। मं० १० ॥

भाष्यम्

अविद्यास्मितेत्यारभ्याध्यैरयन्तेत्यन्तेन मोक्षस्वरूपनिरूपणमस्तीति वेदितव्यम्। एषामर्थः प्राकृतभाषायां प्रकाश्यते

भाषार्थ

(स होवाच ए०) याज्ञवल्क्य कहते हैं, हे गार्गि ! जो परब्रह्म नाश, स्थूल, सूक्ष्म, लघु, लाल, चिक्कन, छाया, अन्धकार, वायु, आकाश, सङ्ग, शब्द, स्पर्श, गन्ध, रस, नेत्र, कर्ण, मन, तेज, प्राण, मुख, नाम, गोत्र, वृद्धावस्था, मरण, भय, आकार, विकाश, संकोच, पूर्व, अपर, भीतर, बाह्य अर्थात् बाहर, इन सब दोष और गुणों से रहित मोक्षस्वरूप है, वह साकार पदार्थ के समान किसी को प्राप्त नहीं होता और न कोई उसको मूर्त्त द्रव्य के समान प्राप्त होता है, क्योंकि वह सब में परिपूर्ण,

सब से अलग, अद्भुतस्वरूप परमेश्वर है, उस को प्राप्त होने वाला कोई नहीं हो सकता, जैसे मूर्त्त द्रव्य को चक्षुरादि इन्द्रियों से साक्षात् कर सकता है। क्योंकि वह सब इन्द्रियों के विषयों से अलग और सब इन्द्रियों का आत्मा है। तथा (ये यज्ञेन) अर्थात् पूर्वोक्त ज्ञानस्वरूप यज्ञ और आत्मादि द्रव्यों की परमेश्वर को दक्षिणा देने से वे मुक्त लोग मोक्ष सुख में प्रसन्न रहते हैं। (इन्द्रस्य) जो परमेश्वर की सख्य अर्थात् मित्रता से मोक्षभाव को प्राप्त हो गये हैं उन्हीं के लिये भद्र नाम सब सुख नियत किये गये हैं। (अङ्गिरसः) अर्थात् उन के जो प्राण हैं वे (सुमेधसः) उन की बुद्धि को अत्यन्त बढ़ाने वाले होते हैं और उस मोक्षप्राप्त मनुष्य को पूर्वमुक्त लोग अपने समीप आनन्द में रख लेते हैं और फिर वे परस्पर अपने ज्ञान से एक दूसरे को प्रीतिपूर्वक देखते और मिलते हैं। (स नो बन्धु०) सब मनुष्यों को यह जानना चाहिये कि वही परमेश्वर हमारा बन्धु अर्थात् दुःख का नाश करने वाला, (जनिता) सब सुखों को उत्पन्न और पालन करने वाला है। तथा वही सब कामों को पूर्ण करता और सब लोकों को जानने वाला है कि जिस में देव अर्थात् विद्वान् लोग मोक्ष को प्राप्त होके सदा आनन्द में रहते हैं और वे तीसरे धाम अर्थात् शुद्ध सत्त्व से सहित होके सर्वोत्तम सुख में सदा स्वच्छन्दता से रमण करते हैं ॥ २ ॥ इस प्रकार संक्षेप से मुक्तिविषय कुछ तो वर्णन कर दिया और कुछ आगे भी कहीं २ करेंगे, सो जानलेना। जैसे (वेदाहमेतं) इस मन्त्र में भी मुक्ति का विषय कहा गया है।

इति मुक्तिविषयः संक्षेपतः

अथ नौविमानादिविद्याविषयस्संक्षेपतः

तुग्रो ह भुज्युमश्विनोदमेघे रयिं न कश्चिन्ममृवाँ अवाहाः। तमूहथुर्नौभिरात्मन्वतीभिरन्तरिक्षप्रुद्भिरपोदकाभिः ॥ १ ॥ तिस्रः क्षपस्त्रिरहातिव्रजद्भिर्नासत्या भुज्युमूहथुः पतङ्गैः। समुद्रस्य धन्वन्नार्द्रस्य पारे त्रिभीरथैः शतपद्भिः षडश्वैः ॥ २ ॥ ऋ० अ० १। अ० ८। व० ८। मं० ३। ४ ॥

भाष्यम्

एषामभिप्रायः। तुग्रो हेत्यादिषु मन्त्रेषु शिल्पविद्या विधीयत इति।

(तुग्रो ह०) तुजि हिंसाबलादाननिकेतनेषु, अस्माद्धातोरौणादिके रक्प्रत्यये कृते तुग्र इति पदं जायते । यः कश्चिद् धनाभिलाषी भवेत् स (रयिं) धनं कामयमानो (भुज्युं) पालनभोगमयं धनादिपदार्थभोगमिच्छन् विजयं च, पदार्थविद्यया स्वाभिलाषं प्राप्नुयात् । स च (अश्विना०) पृथिवीमयैः काष्ठलोष्ठादिभिः पदार्थैर्नावं रचयित्वाऽग्निजलादिप्रयोगेण (उदमेघे) समुद्रे गमयेदागमयेच्च, तेन द्रव्यादिसिद्धिं साधयेत् । एवं कुर्वन् (न कश्चिन् ममृवान्) योगक्षेमाविरहः सन् न मरणं कदाचित् प्राप्नोति, कुतः, तस्य कृतपुरुषार्थत्वात् । अतो नावं (अवाहाः) अर्थात् समुद्रे द्वीपान्तरगमनं प्रति नावो वाहनावहने परमप्रयत्नेन नित्यं कुर्य्यात् । कौ साधयित्वा ? (अश्विना) । द्यौरिति द्योतनात्मकाग्निप्रयोगेण पृथिव्या पृथिवीमयेनायस्ताम्ररजतधातुकाष्ठादिमयेन चेयं क्रिया साधनीया । अश्विनौ युवां तौ साधितौ द्वौ नावादिकं यानं (ऊहथुः) देशान्तरगमनं सम्यक्सुखेन प्रापयतः । पुरुषव्यत्ययेनात्र प्रथमपुरुषस्थाने मध्यमपुरुषप्रयोगः । कथंभूतैर्यानैः ? (नौभिः) समुद्रे गमनागमनहेतुरूपाभिः । (आत्मन्वतीभिः), स्वयं स्थिताभिः स्वात्मीयस्थिताभिर्वा । राजपुरुषैर्व्यापारिभिश्च मनुष्यैर्व्यवहारार्थं समुद्रमार्गेण तासां गमनागमने नित्यं कार्य्ये इति शेषः । तथा ताभ्यामुक्तप्रयत्नाभ्यां भूयांस्यन्यान्यपि विमानादीनि साधनीयानि । एवमेव (अन्तरिक्षप्रुद्भिः) अन्तरिक्षं प्रति गन्तृभिर्विमानाख्ययानैः साधितैः सर्वैर्मनुष्यैः परमैश्वर्य्यं सम्यक् प्रापणीयम् । पुनः कथम्भूताभिर्नौभिः ? (अपोदकाभिः) अपगतं दूरीकृतं जललेपो यासां ता अपोदका नावः, अर्थात् सच्चिक्कनाः । ताभिः, उदरे जलागमनरहिताभिश्च समुद्रे गमनं कुर्य्यात् । तथैव भूयानैर्भूमौ, जलयानैर्जले, अन्तरिक्षयानैश्चान्तरिक्षे चेति त्रिविधं यानं रचयित्वा, जलभूम्याकाशगमनं यथावत् कुर्य्यादिति ॥ १ ॥ अत्र प्रमाणम् । अथातो द्युस्थाना देवतास्तासामश्विनौ प्रथमागामिनौ भवतोऽश्विनौ यद् व्यश्नुवाते सर्वं, रसेनान्यो ज्योतिषाऽन्यो,ऽश्वैरश्विनावित्यौर्णवाभस्तत्कावश्विनौ द्यावापृथिव्यावित्येकेऽहोरात्रावित्येके सूर्य्याचन्द्रमसावित्येके ॥ निरु० अ० १२ । खं० १ ॥ तथाश्विनौ चापि भर्त्तारौ जर्भरीभर्त्तारावित्यर्थस्तुर्फरी तू हन्तारौ ॥ उदन्यजेवेत्युदकजे इव रत्ने सामुद्रे ॥ निरु० अ० १३ । खं० ५ ॥ एतैः प्रमाणैरेतत्सिध्यति वायुजलाग्निपृथिवीविकारकलाकौशलसाधनेन त्रिविधं यानं रचनीयमिति ॥ १ ॥ (तिस्रः क्षपस्त्रिरहा०) कथंभूतैर्नावादिभिः ? तिसृभी रात्रिभिस्त्रिभिर्दिनैः, (आर्द्रस्य) जलेन पूर्णस्य समुद्रस्य तथा (धन्वनः)

स्थलस्यान्तरिक्षस्य पारे, (आतिव्रजद्भिः) अत्यन्तवेगवद्भिः । पुनः कथम्भूतैः ? (पतङ्गैः) प्रतिपातं वेगेन गन्तृभिः, तथा (त्रिभीरथैः) त्रिभी रमणीयसाधनैः, (शतपाद्भिः) शतेनासंख्यातेन वेगेन पद्भ्यां यथा गच्छेत्तादृशैरत्यन्तवेगवद्भिः, (षडश्वैः) षडश्वा आशुगमनहेतवो यन्त्राण्यग्निस्थानानि वा येषु तानि षडश्वानि तैः षडश्वैर्यानैस्त्रिषु मार्गेषु सुखेन गन्तव्यमिति शेषः । तेषां यानानां सिद्धिः केन द्रव्येण भवतीत्यत्राह ? । (नासत्या) पूर्वोक्ताभ्यामश्विभ्याम् । अत एवोक्तं नासत्यौ द्यावापृथिव्यौ । तानि यानानि (ऊहथुः) इत्यत्र पुरुषव्यत्ययेन प्रथमस्य स्थाने मध्यमः, प्रत्यक्षविषयवाचकत्वात् । अत्र प्रमाणम् । व्यत्ययो बहुलम् । अष्टाध्याय्याम् ॥ अ० ३ । पा० १ । सू० ८५ ॥ अत्राह महाभाष्यकारः ॥ सुप्तिङुपग्रहलिङ्गनराणां कालहलच्स्वरकर्तृयङां च । व्यत्ययमिच्छति शास्त्रकृदेषां सोपि च सिध्यति बाहुलकेनेति महाभाष्यप्रामाण्यात् ॥ तावेव नासत्यावश्विनौ सम्यग् यानानि वहत इत्यत्र सामान्यकाले लिड्विधानात् ऊहथुरित्युक्तम् । तावेव तेषां यानानां मुख्ये साधने स्तः । एवं कुर्वतो भुज्युमुत्तमसुखभोगं प्राप्नुयुर्नान्यथेति ॥ २ ॥

भाषार्थ

अब मुक्ति के आगे समुद्र, भूमि और अन्तरिक्ष में शीघ्र चलने के लिये यानविद्या लिखते हैं, जैसी कि वेदों में लिखी है । (तुग्रो ह०) तुजि धातु से रक् प्रत्यय करने से तुग्र शब्द सिद्ध होता है । उसका अर्थ हिंसक, बलवान् ग्रहण करने वाला और स्थान वाला है । क्योंकि वैदिक शब्द सामान्य अर्थ में वर्त्तमान हैं । जो शत्रु को हनन करके अपने विजय बल और धनादि पदार्थ और जिस २ स्थान में सवारियों से अत्यन्त सुख का ग्रहण किया चाहे उन सबों का नाम तुग्र है । (रयिं) जो मनुष्य उत्तम विद्या, सुवर्ण आदि पदार्थों की कामनावाला है उसका जिनसे पालन और भोग होता है उन धनादि पदार्थों की प्राप्ति, भोग और विजय की इच्छा को आगे लिखे हुए प्रकारों से पूर्ण करे । (अश्विना) जो कोई सोना, चांदी, तांबा, पीतल, लोहा और लकड़ी आदि पदार्थों से अनेक प्रकार की कलायुक्त नौकाओं को रच के उनमें अग्नि, वायु और जल आदि का यथावत् प्रयोग कर और पदार्थों को भर के व्यापार के लिये (उदमेघे) समुद्र और नद आदि में (अवाहाः) आवे जावे तो उसके द्रव्यादि पदार्थों की

उन्नति होती है। जो कोई इस प्रकार से पुरुषार्थ करता है वह (न कश्चिन्ममृवान्) पदार्थों की प्राप्ति और उनकी रक्षासहित होकर दुःख से मरण को प्राप्त कभी नहीं होता, क्योंकि वह पुरुषार्थी होके आलसी नहीं रहता। वे नौका आदि किन को सिद्ध करने से होते हैं? अर्थात् जो अग्नि, वायु और पृथिव्यादि पदार्थों में शीघ्रगमनादि गुण और अश्वि नाम से सिद्ध हैं वे ही यानों को धारण और प्रेरणा आदि अपने गुणों से वेगवान् करदेते हैं। वेदोक्त युक्ति से सिद्ध किये हुए नाव, विमान और रथ अर्थात् भूमि में चलने वाली सवारियों का (ऊहथुः) जाना आना जिन पदार्थों से देश देशान्तर में सुख से होता है। यहां पुरुषव्यत्यय से (ऊहतुः) इस के स्थान में (ऊहथुः) ऐसा प्रयोग किया गया है। उनसे किस २ प्रकार की सवारी सिद्ध होती है सो लिखते हैं। (नौभिः) अर्थात् समुद्र में सुख से जाने आने के लिये अत्यन्त उत्तम नौका होती हैं। (आत्मन्वतीभिः) जिनसे उनके मालिक अथवा नौकर चला के जाते आते रहें। व्यवहारी और राजपुरुष लोग इन सवारियों से समुद्र में जावें आवें। तथा (अन्तरिक्षप्रुद्भिः) अर्थात् जिनसे आकाश में जाने आने की क्रिया सिद्ध होती है। जिनका नाम विमान शब्द करके प्रसिद्ध है। तथा (अपोदकाभिः) वे सवारी ऐसी शुद्ध और चिक्कन होनी चाहियें जो जल से न गलें और न जल्दी टूटें फूटें। इन तीन प्रकार की सवारियों की जो रीति पहिले कह आये और जो आगे कहेंगे उसी के अनुसार बराबर उनको सिद्ध करें। इस अर्थ में निरुक्त का प्रमाण संस्कृत में लिखा है सो देख लेना उस का अर्थ यह है (अथातो द्युस्थानादे०) वायु और अग्नि आदि का नाम अश्वि है, क्योंकि सब पदार्थों में धनञ्जयरूप करके वायु और विद्युत् रूप से अग्नि ये दोनों व्याप्त हो रहे हैं। तथा जल और अग्नि का नाम भी अश्वि है, क्योंकि अग्नि ज्योति से युक्त और जल रस से युक्त हो के व्याप्त हो रहा है। (अश्वैः) अर्थात् वे वेगादि गुणों से भी युक्त हैं। जिन पुरुषों को विमान आदि सवारियों की सिद्धि की इच्छा हो वे वायु, अग्नि और जल से उन को सिद्ध करें यह और्णनाभ आचार्य्य का मत है। तथा कई एक ऋषियों का ऐसा मत है कि अग्नि की ज्वाला और पृथिवी का नाम अश्वि है। पृथिवी के विकार काष्ठ और लोहा आदि के कलायन्त्र चलाने से भी अनेक प्रकार के वेगादि गुण सवारियों वा अन्य कारीगरियों में किये जाते हैं। तथा कई एक विद्वानों का ऐसा मत है कि (अहोरात्रौ) अर्थात् दिन रात्रि का नाम अश्वि है, क्योंकि इन से भी सब पदार्थों के संयोग और वियोग होने के कारण से वेग उत्पन्न होते हैं, अर्थात्

जैसे शरीर और ओषधि आदि में वृद्धि और क्षय होते हैं। इसी प्रकार कई एक शिल्पविद्या जानने वाले विद्वानों का ऐसा भी मत है कि (सूर्य्याचन्द्रमसौ) सूर्य्य और चन्द्रमा को अश्वि कहते हैं, क्योंकि सूर्य्य और चन्द्रमा के आकर्षणादि गुणों से जगत् के पृथिवी आदि पदार्थों में संयोग वियोग, वृद्धि क्षय आदि श्रेष्ठ गुण उत्पन्न होते हैं। तथा (जर्भरी) और (तुर्फरी) ये दोनों पूर्वोक्त अश्वि के नाम हैं। (जर्भरी) अर्थात् विमान आदि सवारियों के धारण करने वाले और (तुर्फरी) अर्थात् कलायन्त्रों के हनन से वायु, अग्नि, जल और पृथिवी के युक्तिपूर्वक प्रयोग से विमान आदि सवारियों का धारण पोषण और वेग होते हैं। जैसे घोड़े और बैल चाबुक मारने से शीघ्र चलते हैं वैसे ही कलाकौशल से धारण और वायु आदि को कलाओं करके प्रेरने से सब प्रकार की शिल्पविद्या सिद्ध होती है। (उदन्यजे) अर्थात् वायु, अग्नि और जल के प्रयोग से समुद्र में सुख करके गमन हो सकता है ॥ १ ॥ (तिस्रः क्षपस्त्रि०) नासत्या० जो पूर्वोक्त अश्वि कह आये हैं वे (भुज्यु-मूहथुः) अनेक प्रकार के भोगों को प्राप्त करते हैं, क्योंकि जिन के वेग से तीन दिन रात में (समुद्र) सागर, (धन्वन्०) आकाश और भूमि के पार नौका विमान और रथ करके (व्रजद्भिः०) सुखपूर्वक पार जाने में समर्थ होते हैं, (त्रिभीरथैः) अर्थात् पूर्वोक्त तीन प्रकार के वाहनों से गमनागमन करना चाहिये। तथा (षडश्वैः) छः अश्व अर्थात् उन में अग्नि और जल के छः घर बनाने चाहियें। जैसे उन यानों से अनेक प्रकार के गमनागमन हो सकें तथा (पतङ्गैः) जिन से तीन प्रकार के मार्गों में यथावत् गमन हो सकता है ॥ २ ॥

अ॒ना॒र॒म्भ॒णे तद॑वीरयेथामनास्था॒ने अ॑ग्रभ॒णे स॑मु॒द्रे। यद॑श्विना ऊ॒हथु॑र्भु॒ज्युमस्तं॑ श॒तारि॑त्रां॒ नाव॑मातस्थि॒वांस॑म् ॥ ३ ॥ यम॑श्विना द॒दथुः॑ श्वे॒तमश्व॑म॒घाश्वा॑य॒ शश्व॒दित्स्व॒स्ति। तद्वां॑ दा॒त्रं महि॑ की॒र्त्तेन्यं॑ भूत्पै॒द्वो वा॒जी सद॒मिद्धव्यो॑ अ॒र्यः ॥ ४ ॥ ऋ० अष्ट० १ । अ० ८ । व० ८ । ६ । मं० ५ । १ ॥

भाष्यम्

हे मनुष्याः ! पूर्वोक्ताभ्यां प्रयत्नाभ्यां कृतसिद्धयानैः, (अनारम्भणे) आलम्बरहिते, (अनास्थाने) स्थातुमशक्ये, (अग्रभणे) हस्तालम्बनाविद्यमाने, (समुद्रे) समुद्रवन्त्यापो यस्मिन् तस्मिन् जलेन पूर्णे, अन्तरिक्षे वा, कार्य्यसि-

द्ध्यर्थं युष्माभिर्गन्तव्यमिति । अश्विना ऊहथुर्भुज्युमिति पूर्ववद्विज्ञेयम् । तद्यानं सम्यक् प्रयुक्ताभ्यां ताभ्यामश्विभ्यां (अस्तं) क्षिप्तं चालितं सम्यक् कार्य्यं साधयतीति । कथम्भूतां नावं समुद्रे चालयेत् ? (शतारित्राम्) शतानि अरित्राणि लोहमयानि समुद्रस्थलान्तरिक्षमध्ये स्तम्भनार्थानि गाधग्रहणार्थानि च भवन्ति यस्यां तां शतारित्राम् । एवमेव शतारित्रं भूम्याकाशविमानं प्रति योजनीयम् । तथा तदेतत् त्रिविधं यानं शतकलं शतबन्धनं शतस्तम्भनसाधनं च रचनीयमिति । तद्यानैः कथम्भूतं भुज्युं भोगं प्राप्नुवन्ति ? । (तस्थिवांसं) स्थितिमन्तमित्यर्थः ॥ ३ ॥ यद्यस्मादेवं भोगो जायते तस्मादेवं सर्वमनुष्यैः प्रयत्नः कर्त्तव्यः । (यमश्विना०) यं सम्यक् प्रयुक्ताभ्यामग्निजलाभ्यामश्विभ्यां शुक्लवर्णं वाष्पाख्यमश्वं (अघाश्वाय) शीघ्रगमनाय शिल्पविद्याविदो मनुष्याः प्राप्नुवन्ति तमेवाश्वं गृहीत्वा पूर्वोक्तानि यानानि साधयन्ति । (शश्वत्) तानि शश्वन्निरन्तरमेव (स्वस्ति) सुखकारकाणि भवन्ति । तद्यानसिद्धिं (अश्विना ददथुः) दत्तस्ताभ्यामेवायं गुणो मनुष्यैर्ग्राह्य इति । (वाम्) अत्रापि पुरुषव्यत्ययः । तयोरश्विनोर्मध्ये यत्सामर्थ्यं वर्त्तते तत् कीदृशं ? (दात्रं) दानयोग्यं, सुखकारकत्वात् पोषकं च, (महि) महागुणयुक्तम्, (कीर्त्तेन्यम्) कीर्त्तनीयमत्यन्तप्रशंसनीयम् । कृत्यार्थे तवैकेनकेन्यत्वन इति केन्यप्रत्ययः । अन्येभ्यस्तच्छ्रेष्ठोपकारकम् (भूत्) अभूत् भवतीति । अत्र लडर्थे लुङ् विहित इति वेद्यम् । स चाग्न्याख्यो (वाजी) वेगवान्, (पैद्वः०) यो यानं मार्गे शीघ्रवेगेन गमयितास्ति, पैद्वपतङ्गावश्वनाम्नी । निघं० अ० १ । खं० १४ ॥ (सदमित्) यः सदं वेगं इत् एति प्राप्नोतीतीदृशोऽश्वोऽग्निरस्मीभिः (हव्यः) ग्राह्योऽस्ति । (अर्यः) तमश्वमर्य्यो वैश्यो वणिग्जनोऽवश्यं गृह्णीयात् ॥ अर्य्यः स्वामिवैश्ययोः, इति पाणिनिसूत्रात्, अर्य्यो वैश्यस्वामिवाचीति ॥ ४ ॥

त्रयः पवयो मधुवाहने रथे सोमस्य वेनामनु विश्व इद्विदुः । त्रयः स्कम्भासः स्कभितास आरभे । त्रिर्नक्तं याथस्त्रिर्वश्विना दिवा ॥ ५ ॥ ऋ० अष्ट० १ । अ० ३ । वर्ग ४ । मं० २ ॥

भाष्यम्

(मधुवाहने) मधुरगतिमति रथे (त्रयः पवयः) वज्रतुल्याश्चक्रसमूहाः कलायन्त्रयुक्ता दृढाः शीघ्रं गमनार्थं त्रयः कार्य्याः । तथैव शिल्पिभिः (त्रयः

स्कम्भासः) स्तम्भनार्थाः स्तम्भास्त्रयः कार्य्याः । (स्कभितासः०) किमर्थाः सर्वकलानां स्थापनार्थाः । (विश्वे) सर्वे शिल्पिनो विद्वांसः (सोमस्य) सोमगुणविशिष्टस्य सुखस्य (वेनां) कमनीयां कामनासिद्धिं विदुर्जानन्त्येव । अर्थात् (अश्विना) अश्विभ्यामेवैतद्यानमारब्धुमिच्छेयुः । कुतः, तावेवाश्विनौ तद्यानसिद्धिं (याथः) प्रापयत इति । तत्कीदृशमित्यत्राह (त्रिर्नक्तम्) (त्रिर्दिवा) तिसृभी रात्रिभिस्त्रिभिर्दिनैश्चातिदूरमपि मार्गं गमयतीति बोध्यम् ॥ ५ ॥

भाषार्थ

(अनारम्भणे०) हे मनुष्य लोगो ! तुम पूर्वोक्त प्रकार से अनारम्भण अर्थात् आलम्बरहित समुद्र में अपने कार्य्यों की सिद्धि करने योग्य यानों को रच लो (तद्वीरयेथाम्) वे यान पूर्वोक्त अश्विनी से ही जाने आने के लिये सिद्ध होते हैं । (अनास्थाने) अर्थात् जिस आकाश और समुद्र में विना आलम्ब से कोई भी नहीं ठहर सकता, (अग्रभणे) जिसमें हाथ से पकड़ने का आलम्ब कोई भी नहीं मिल सकता (समुद्रे) ऐसा जो पृथिवी पर जल से पूर्ण समुद्र प्रत्यक्ष है, तथा अन्तरिक्ष का भी नाम समुद्र है, क्योंकि वह भी वर्षा के जल से पूर्ण रहता है, उन में किसी प्रकार का आलम्बन सिवाय नौका और विमान से नहीं मिल सकता, इससे इन यानों को पुरुषार्थ से रच लेवें । (यदश्विना) (ऊहथुर्भु०) जो यान वायु आदि अश्वि से रचा जाता है वह उत्तम भोगों को प्राप्त कर देता है, क्योंकि (अस्तं) जो उन से चलाया जाता है वह पूर्वोक्त समुद्र, भूमि और अन्तरिक्ष में सब कार्य्यों को सिद्ध करता है । (शतारित्राम्) उन नौकादि सवारियों में सैकड़ह अरित्र अर्थात् जल का थाह लेने, उनके थांभने और वायु आदि विघ्नों से रक्षा के लिये लोह आदि के लंगर भी रखना चाहिये, जिन से जहां चाहे वहां उन यानों को थांभे, इसी प्रकार उन में सैकड़ह कलबन्धन और थांभने के साधन रचने चाहियें । इस प्रकार के यानों से (तस्थिवांसम्) स्थिर भोग को मनुष्य लोग प्राप्त होते हैं ।। ३ ॥ (यमश्विना) जो अश्वि अर्थात् अग्नि और जल हैं उन के संयोग से (श्वेतमश्वं) भाफरूप अश्व अत्यन्त वेग देने वाला होता है । जिस से कारीगर लोग सवारियों को (अघाश्वाय) शीघ्र गमन के लिये वेगयुक्त कर देते हैं जिस वेग की हानि नहीं हो सकती उसको जितना बढ़ाया चाहे उतना बढ़ सकता है । (शश्वदित्स्वस्ति०) जिन यानों में बैठ के समुद्र और अन्तरिक्ष में निरन्तर स्वस्ति अर्थात् नित्य

सुख बढ़ता है । (ददथुः) जो कि वायु अग्नि और जल आदि से वेग गुण उत्पन्न होता है उस को मनुष्य लोग सुविचार से ग्रहण करें । (वाम्) यह सामर्थ्य पूर्वोक्त अश्विसंयुक्त पदार्थों ही में है । (तत्) सो सामर्थ्य कैसा है कि (दात्रम्) जो दान करने के योग्य, (महि) अर्थात् बड़े २ शुभ गुणों से युक्त, (कीर्त्तेन्यम्) अत्यन्त प्रशंसा करने के योग्य और सब मनुष्यों को उपकार करने वाला (भूत्) है । क्योंकि वही (पैद्वः) अश्व मार्ग में शीघ्र चलाने वाला है । (सदमित्) अर्थात् जो अत्यन्त वेग से युक्त है (हव्यः) वह ग्रहण और दान देने के योग्य है । (अर्य्यः) वैश्य लोग तथा शिल्पविद्या का स्वामी इस को अवश्य ग्रहण करे, क्योंकि इन यानों के विना द्वीपान्तर में जाना आना कठिन है ।। ४ ।। यह यान किस प्रकार का बनाना चाहिये कि (त्रयः पवयो मधु०) जिस में तीन पहिये हों, जिन से वह जल और पृथिवी के ऊपर चलाया जाय और मधुर वेगवाला हो, उस के सब अङ्ग वज्र के समान दृढ़ हों, जिन में कलायन्त्र भी दृढ़ हों, जिनसे शीघ्र गमन होवे, (त्रयः स्कम्भासः) उन में तीन २ थम्भे ऐसे बनाने चाहियें कि जिन के आधार सब कलायन्त्र लगे रहें, तथा (स्कभितासः) वे थम्भे भी दूसरे काष्ठ वा लोहे के साथ लगे रहें, (आरा) जो कि नाभि के समान मध्यकाष्ठ होता है उसी में सब कलायन्त्र जुड़े रहते हैं । (विश्वे) सब शिल्पिविद्वान् लोग ऐसे यानों को सिद्ध करना अवश्य जानें । (सोमस्य वेनाम्) जिन से सुन्दर सुख की कामना सिद्ध होती है, (रथे) जिस रथ में सब क्रीड़ासुखों की प्राप्ति होती है, (आरभे) उस के आरम्भ में अश्वि अर्थात् अग्नि और जल ही मुख्य हैं । (त्रिर्नक्तं याथस्त्रिर्वाश्विना दिवा) जिन यानों से तीन दिन और तीन रात में द्वीप द्वीपान्तर में जा सकते हैं ।। ५ ।।

त्रिर्नो॑ अश्विना यज॒ता दि॒वेदि॑वे॒ परि॑ त्रि॒धातु॑ पृथि॒वीम॑शायतम् । ति॒स्रो ना॑सत्या रथ्या परा॒वत॑ आ॒त्मेव॒ वात॒ः स्वस॑राणि गच्छतम् ॥ ६ ॥ ऋ० अष्ट० १ । अ० ३ । व० ५ । मं० १ ॥ अ॒रि॒त्रं वां॑ दिव॒स्पृथु ती॒र्थे सिन्धू॑नां॒ रथ॑ः । धि॒या यु॑युज्र॒ इन्द॑वः ॥ ७ ॥ ऋ० अष्ट० १ । अ० ३ । व० ३४ । मं० ३ ॥ वि ये भ्राज॑न्ते॒ सुम॑खास ऋ॒ष्टिभि॑ः प्रच्या॒वय॑न्तो॒ अच्यु॑ता चि॒दोज॑सा । म॒नो॒जुवो॒ यन्म॑रुतो॒ रथे॒ष्वा वृष॑व्रातास॒ः पृष॑ती॒रयु॑ग्ध्वम् ॥ ८ ॥ ऋ० अ० १ । अ० ६ । व० ६ । मं० ४ ॥

भाष्यम्

यत्पूर्वोक्तं भूमिसमुद्रान्तरिक्षेषु गमनार्थं यानमुक्तं तत् पुनः कीदृशं कर्त्तव्यमित्यत्राह । (परि त्रिधातु) अयस्ताम्ररजतादिधातुत्रयेण रचनीयम् । इदं कीदृग्वेगं भवतीत्यत्राह । (आत्मेव वातः०) आगमनागमने । यथात्मा मनश्च शीघ्रं गच्छत्यागच्छति तथैव कलाप्रेरितौ वाय्वग्नी अश्विनौ तद्यानं त्वरितं गमयत आगमयतश्चेति विज्ञेयमिति संक्षेपतः ॥ ६ ॥ तच्च कीदृशं यानमित्यत्राह, (अरित्रं) स्तम्भनार्थसाधनयुक्तं, (पृथु) अतिविस्तीर्णम् । ईदृशः स रथः अग्न्यश्वयुक्तः (सिन्धूनाम्) महासमुद्राणां (तीर्थे) तरणे कर्त्तव्येऽलं वेगवान् भवतीति बोध्यम् । (धिया यु०) तत्र त्रिविधे रथे (इन्दवः) जलानि वाष्पवेगार्थं (युयुज्रे) यथावद्युक्तानि कार्य्याणि । येनातीव शीघ्रगामी स रथः स्यादिति । (इन्दवः) इति जलनामसु । निघण्टौ अध्याये प्रथमे खण्डे १२ पठितम् । (उन्देरिच्चादेः) । उणादौ प्रथमे पादे सूत्रम् । सू० १२ ॥७॥ हे मनुष्याः ! (मनोजुवः) मनोवद्गतयो वायवो यन्त्रकलाचालनैस्तेषु रथेषु पूर्वोक्तेषु त्रिविधयानेषु यूयम् (अयुग्ध्वम्) तान् यथावद्योजयत । कथम्भूता अग्निवाय्वादयः । (आवृष व्रातासः) जलसेचनयुक्ताः । येषां संयोगे वाष्पजन्यवेगोत्पत्त्या वेगवन्ति तानि यानानि सिद्ध्यन्तीत्युपदिश्यते ॥ ८ ॥

भाषार्थ

फिर वह सवारी कैसी बनाना चाहिये कि (त्रिर्नो अश्विना य०) (पृथिवीमशायतम्) जिन सवारियों से हमारा भूमि, जल और आकाश में प्रतिदिन आनन्द से जाना आना बनता है, (परित्रिधातु पृ०) वे लोहा, तांबा, चांदी आदि तीन धातुओं से बनती है । और जैसे (रथ्या परावतः०) नगर वा ग्राम की गलियों में झट पट जाना आना बनता है वैसे दूर देश में भी उन सवारियों से शीघ्र २ जाना आना होता है । (नासत्या०) इसी प्रकार विद्या के निमित्त पूर्वोक्त जो अश्वि है उन से बड़े २ कठिन मार्ग में भी सहज से जाना आना करें । जैसे (आत्मेव वातः स्व०) मन के वेग के समान शीघ्र गमन के लिये सवारियों से प्रतिदिन सुख से सब भूगोल के बीच जावें आवें ॥ ६ ॥ (अरित्रं वाम्) जो पूर्वोक्त अरित्रयुक्त यान बनते हैं वे (तीर्थे सिन्धूनां रथः) जो रथ बड़े २ समुद्रों के मध्य से भी पार पहुंचाने में श्रेष्ठ होते हैं, (दिवस्पृथु) जो विस्तृत और आकाश तथा समुद्र में जाने

आने के लिये अत्यन्त उत्तम होते हैं, जो मनुष्य उन रथों में यन्त्र सिद्ध करते हैं वे सुखों को प्राप्त होते हैं। (धिया युयुज्र०) उन तीन प्रकार के यानों में (इन्दवः) वाष्पवेग के लिये एक जलाशय बना के उस में जलसेचन करना चाहिये जिससे वह अत्यन्त वेग से चलने वाला यान सिद्ध हो ॥ ७ ॥ (वि ये भ्राजन्ते०) हे मनुष्य लोगो ! (मनोजुवः) अर्थात् जैसा मन का वेग है वैसे वेग वाले यान सिद्ध करो। (यन्मरुतो रथेषु) उन रथों में (मरुत्) अर्थात् वायु और अग्नि को मनोवेग के समान चलाओ और (आ वृषव्रातासः) उन के योग में जलों का भी स्थापन करो। (पृषतीरयुग्ध्वम्) जैसे जल के वाष्प घूमने की कलाओं को वेग वाली कर देते हैं वैसे ही तुम भी उनको सब प्रकार से युक्त करो। जो इस प्रकार से प्रयत्न करके सवारी सिद्ध करते हैं वे (विभ्राजन्ते) अर्थात् विविध प्रकार भोगों से प्रकाशमान होते हैं और (सुमखास ऋष्टिभिः) जो इस प्रकार से इन शिल्पविद्यारूप श्रेष्ठ यज्ञ करने वाले सब भोगों से युक्त होते हैं (अच्युता चिदोजसा०) वे कभी दुःखी होके नष्ट नहीं होते और सदा पराक्रम से बढ़ते जाते हैं, क्योंकि कलाकौशलता से युक्त वायु और अग्नि आदि पदार्थों की (ऋष्टि) अर्थात् कलाओं से (प्रच्या०) पूर्व स्थान को छोड़ के मनोवेग यानों से जाते आते हैं, उन ही से मनुष्यों को सुख भी बढ़ता है, इसलिये इन उत्तम यानों को अवश्य सिद्ध करें ॥ ८ ॥

आ नो नावा मतीनां यातं पाराय गन्तवे। युञ्जाथामाश्विना रथम् ॥ ९ ॥ ऋ० अष्ट० १ । अ० ३ । व० ३४ । मं० २ ॥ कृष्णं नियानं हरयः सुपर्णा अपो वसाना दिवमुत्पतन्ति। त आववृत्रन्त्सदनादृतस्यादिद् घृतेन पृथिवी व्युद्यते ॥ १० ॥ द्वादश प्रधयश्चक्रमेकं त्रीणि नभ्यानि क उ तच्चिकेत। तस्मिन्त्साकं त्रिशता न शङ्कवोऽर्पिताः षष्टिर्न चलाचलासः ॥ ११ ॥ ऋ० अष्ट० २ । अ० ३ । व० २३ । मं० १ । २ ॥

भाष्यम्

समुद्रे भूमौ अन्तरिक्षे गमनयोग्यमार्गस्य (पाराय) (गन्तवे) गन्तुं यानानि रचनीयानि। (नावा मतीनाम्) यथा समुद्रगमनवृत्तीनां मेधाविनां नावा नौकया पारं गच्छन्ति तथैव (नः) अस्माकमपि नौरुत्तमा भवेत्। (आयुञ्जाथाम०) यथा मेधाविभिरग्निजले आसमन्ताद्यानेषु युज्येते तथास्माभिरपि योज-

नीये भवतः । एवं सर्वैर्मनुष्यैः समुद्रादीनां पारावारगमनाय पूर्वोक्तयानरचने प्रयत्नः कर्त्तव्य इत्यर्थः ॥ मेधाविनामसु निघण्टौ । अध्याये तृतीये । १५ खण्डे मतय इति पठितम् ॥९॥ हे मनुष्याः ! (सुपर्णाः) शोभनपतनशीलाः (हरयः) अग्न्यादयोऽश्वाः, (अपोवसानाः) जलपात्राच्छादिता अधस्ताज्ज्वालारूपाः काष्ठेन्धनैः प्रज्वालिताः कलाकौशलभ्रमणयुक्ताः कृताश्चेत्तदा (कृष्णं) पृथिवीविकारमयं (नियानं) निश्चितं यानं (दिवमुत्प०) द्योतनात्मकमाकाशमुत्पतन्ति ऊर्ध्वं गमयन्तीत्यर्थः ॥ १० ॥ (द्वादश प्रधयः) तेषु यानेषु प्रधयः सर्वकलायुक्तानामराणां धारणार्था द्वादश कर्त्तव्याः, (चक्रमेकम्) तन्मध्ये सर्वकलाभ्रामणार्थमेकं चक्रं रचनीयम्, (त्रीणि नभ्यानि) मध्यस्थानि मध्यावयवधारणार्थानि त्रीणि यन्त्राणि रचनीयानि, तैः (साकं त्रिशता) त्रीणि शतानि (शङ्कवोऽर्पिताः) यन्त्रकला रचयित्वा स्थापनीयाः, (चलाचलासः) ताः कलाः चलाः चालनार्हाः, अचलाः स्थित्यर्हाः, (षष्टिः) षष्टिसंख्याकानि कलायन्त्राणि स्थापनीयानि । तस्मिन् याने एतदादिविधानं सर्वं कर्त्तव्यम् ।(क उ तच्चिकेत) इत्येतत् कृत्यं को विजानाति, (न) नहि सर्वे । इत्यादय एतद्विषया वेदेषु बहवो मन्त्रास्सन्त्यप्रसङ्गादत्र सर्वे नोल्लिख्यन्ते ॥ ११ ॥

भाषार्थ

हे मनुष्यो ! (आ नो नावा मतीनाम्) जैसे बुद्धिमान् मनुष्यों के बनाये नाव आदि यानों से (पाराय) समुद्र के पारावार जाने के लिये सुगमता होती है वैसे ही (आ०) (युञ्जाथाम्) पूर्वोक्त वायु आदि अश्वि का योग यथावत् करो । (रथम्) जिस प्रकार उन यानों से समुद्र के पार और वार में जा सको । (नः) हे मनुष्यो ! आओ आपस में मिल के इस प्रकार के यानों को रचें जिनसे सब देश देशान्तर में हमारा जाना आना बने ॥ ९ ॥ (कृष्णं नि०) अग्निजलयुक्त (कृष्णं) अर्थात् खैंचने वाला जो (नियानं) निश्चित यान है, उसके (हरयः) वेगादि गुण रूप (सुपर्णाः) अच्छी प्रकार गमन कराने वाले जो पूर्वोक्त अग्न्यादि अश्व हैं, वे (अपोवसानाः) जलसेचनयुक्त वाष्प को प्राप्त होके (दिवमुत्पतन्ति०) उस काष्ठ लोहा आदि से बने हुए विमान को आकाश में उड़ा चलते हैं । (त आववृ०) वे जब चारों ओर से सदन अर्थात् जल से वेगयुक्त होते हैं तब (ऋतस्य) अर्थात् यथार्थ सुख के देने वाले होते हैं । (पृथिवी घृ०) जब जलकलाओं के द्वारा पृथिवी

जल से युक्त की जाती है तब उससे उत्तम २ भोग प्राप्त होते हैं ॥ १० ॥) द्वादश प्रधयः) इन यानों के बाहर भी थम्भे रचने चाहियें, जिनमें सब कलायन्त्र लगाये जायं, (चक्रमेकम्) उनमें एक चक्र बनाना चाहिये जिसके घुमाने से सब कला घूमें, (त्रीणि नभ्यानि०) फिर उसके मध्य में तीन चक्र रचने चाहियें कि एक के चलाने से सब रुक जायं, दूसरे के चलाने से आगे चलें और तीसरे के चलाने से पीछे चलें, (तस्मिन् साकं त्रिशता०) उनमें तीन तीनसौ (शङ्कवः) बड़ी बड़ी कीलें अर्थात् पेच लगाने चाहियें कि जिनसे उनके सब अङ्ग जुड़ जायं और उनके निकालने से सब अलग २ हो जायं, (षष्टिर्न चलाचलासः) उनमें ६० (साठ) कलायन्त्र रचने चाहियें, कई एक चलते रहें और कुछ बन्द रहें, अर्थात् जब विमान को ऊपर चढ़ाना हो तब भाफघर के ऊपर के मुख बन्द रखने चाहियें और जब ऊपर से नीचे उतारना हो तब ऊपर के मुख अनुमान से खोल देना चाहिये, ऐसे ही जब पूर्व को चलाना हो तो पूर्व के बन्द करके पश्चिम के खोलने चाहियें और जो पश्चिम को चलाना हो तो पश्चिम के बन्द करके पूर्व के खोल देने चाहियें, इसी प्रकार उत्तर दक्षिण में भी जान लेना।(न) उन में किसी प्रकार की भूल न रहनी चाहिये।(क उ तच्चिकेत) इस महागम्भीर शिल्पविद्या को सब साधारण लोग नहीं जान सकते । किन्तु जो महाविद्वान् हस्तक्रिया में चतुर और पुरुषार्थी लोग हैं वे ही सिद्ध कर सकते हैं। इस विषय के वेदों में बहुत मन्त्र हैं, परन्तु यहां थोड़ा ही लिखने में बुद्धिमान् लोग बहुत समझ लेंगे ॥ ११ ॥

इति नौविमानादिविद्याविषयः संक्षेपतः

अथ तारविद्यामूलं संक्षेपतः

युवं पे॒दवे॑ पुरु॒वार॑मश्विना स्पृधां श्वे॒तं त॑रु॒तारं॑ दुवस्यथः । शर्यै॑र॒भिद्युं॒ पृत॑नासु दु॒ष्टरं॑ च॒र्कृत्य॒मिन्द्र॑मिव चर्षणी॒सह॑म् ॥ ८ ॥ ऋ० अष्ट० १ । अ० ८ । व० २१ । मं० ५० ॥

भाष्यम्

अस्याभि०—अस्मिन् मन्त्रे तारविद्याबीजं प्रकाश्यत इति । हे मनुष्याः ! (अश्विना०) अश्विनोर्गुणयुक्तं, (पुरुवारं) बहुभिर्विद्वद्भिः स्वीकर्त्तव्यं बहूत्तमगुणयुक्तम्, (श्वेतं) अग्निगुणविद्युन्मयं शुद्धधातुनिर्मितम्, (अभिद्युं) प्राप्तविद्यु-

स्प्रकाशम्, (पृतनासु दुष्टरं) राजसेनाकार्य्येषु दुस्तरं प्लवितुमशक्यं, (चर्कृत्यं) वारंवारं सर्वाक्रियासु योजनीयम्, (तरुतारं) ताराख्यं यन्त्रं यूयं कुरुत । कथम्भूतैर्गुणैर्युक्तं ? (शर्यैः) पुनः पुनर्हननप्रेरणगुणैर्युक्तम्, कस्मै प्रयोजनाय ? (पेदवे) परमोत्तमव्यवहारसिद्धिप्रापणाय । पुनः कथम्भूतं ? (स्पृधां) स्पर्द्धमानानां शत्रूणां पराजयाय स्वकीयानां वीराणां विजयाय च परमोत्तमम् । पुनः कथम्भूतम् ? (चर्षणीसहम्०) मनुष्यसेनायाः कार्यसहनशीलम् पुनः कथम्भूतं ? (इन्द्रमिव०) सूर्यवत् दूरस्थमपि व्यवहारप्रकाशनसमर्थम् । (युवं) युवामश्विनौ (दुवस्यथः) पुरुषव्यत्ययेन पृथिवीविद्युदाख्यावश्विनौ सम्यक् साधयित्वा तत्ताराख्यं यन्त्रं नित्यं सेवध्वमिति बोध्यम् ॥ ८ ॥

भाषार्थ

(युवं पेदवे०) अभिप्रा०—इस मन्त्र से तारविद्या का मूल जाना जाता है । पृथिवी से उत्पन्न धातु तथा काष्ठादि के यन्त्र और विद्युत् अर्थात् बिजुली इन दोनों के प्रयोग से तारविद्या सिद्ध होती है । क्योंकि (*द्यावापृथिव्योरित्येके०) इस निरुक्त के प्रमाण से इनका अश्वि नाम जान लेना चाहिये । (पेदवे) अर्थात् वह अत्यन्त शीघ्र गमनागमन का हेतु होता है । (पुरुवारम्) अर्थात् इस तारविद्या से बहुत उत्तम व्यवहारों के फलों को मनुष्य लोग प्राप्त होते हैं । (स्पृधाम्) अर्थात् लड़ाई करने वाले जो राजपुरुष हैं उनके लिये यह तारविद्या अत्यन्त हितकारी है । (श्वेतं०) वह तार शुद्ध धातुओं का होना चाहिये । (अभिद्युम्) और विद्युत् प्रकाश से युक्त करना चाहिये । (पृतनासु दुष्टरम्) सब सेनाओं के बीच में जिसका दुःसह प्रकाश होता और उल्लंघन करना अशक्य है, (चर्कृत्यम्) जो सब क्रियाओं के वारंवार चलाने के लिये योग्य होता है । (शर्य्यैः) अनेक प्रकार कलाओं के चलाने से अनेक उत्तम व्यवहारों को सिद्ध करने के लिये विद्युत् की उत्पत्ति करके उसको ताड़न करना चाहिये । (तरुतारम्) जो इस प्रकार का ताराख्य यन्त्र है उसको सिद्ध करके प्रीति से सेवन करो । किस प्रयोजन के लिये ? (पेदवे०) परम उत्तम व्यवहारों की सिद्धि के लिये तथा दुष्ट शत्रुओं के पराजय और श्रेष्ठ पुरुषों के विजय के लिये तारविद्या सिद्ध करनी चाहिये । (चर्षणीसहं०) जो मनुष्यों की सेना के युद्धादि अनेक कार्य्यों के सहन करने वाला है । (इन्द्रमिव०) जैसे समीप और दूरस्थ पदार्थों का प्रकाश सूर्य्य

* द्यावापृथिव्यावित्येके, निरु० अ० १२, खं० १॥

करता है वैसे तारयन्त्र से भी दूर और समीप के सब व्यवहारों का प्रकाश होता है। (युवं) (दुवस्यथः) यह तारयन्त्र पूर्वोक्त अश्वि के गुणों ही से सिद्ध होता है। इसको बड़े प्रयत्न से सिद्ध करके सेवन करना चाहिये। इस मन्त्र में पुरुषव्यत्यय पूर्वोक्त नियम से हुआ है अर्थात् मध्यम पुरुष के स्थान में प्रथम पुरुष समझना चाहिये ॥ १ ॥

इति तारविद्यामूलं संक्षेपतः

अथ वैद्यकशास्त्रमूलोद्देशः संक्षेपतः

सुमित्रिया न आप ओषधयः सन्तु । दुर्मित्रियास्तस्मै सन्तु योऽस्मान् द्वेष्टि यं च वयं द्विष्मः ॥ १ ॥ य० अ० ६ । मं० २२ ॥

भाष्यम्

अस्याभिप्रायार्थः— इदं वैद्यकशास्त्रस्यायुर्वेदस्य मूलमस्ति । हे परमवैद्येश्वर ! भवत्कृपया (नः) अस्मभ्यं (ओषधयः) सोमादयः, (सुमित्रिया) अत्र (इयाडियाजीकाराणामुपसङ्ख्यानम्) इति वार्त्तिकेन जसः स्थाने 'डियाच्' इत्यादेशः, सुमित्राः सुखप्रदा रोगनाशकाः सन्तु, यथावद्विज्ञाताश्च । तथैव (आपः) प्राणाः सुमित्राः सन्तु । तथा (योस्मान्द्वेष्टि) योऽधर्मात्मा कामक्रोधादिर्वा रोगश्च विरोधी भवति, (यं च वयं द्विष्मः) यमधर्मात्मानं रोगं च वयं द्विष्मः, (तस्मै०) दुर्मित्रिया दुःखप्रदा विरोधिन्यः सन्तु । अर्थात् ये सुपथ्यकारिणस्तेभ्य ओषधयो मित्रवद् दुःखनाशिका भवन्ति । तथैव कुपथ्यकारिभ्यो मनुष्येभ्यश्च शत्रुवद् दुःखाय भवन्तीति । एवं वैद्यकशास्त्रस्य मूलार्थविधायका वेदेषु बहवो मन्त्राः सन्ति, प्रसङ्गाभावान्नात्र लिख्यन्ते । यत्र तत्र ते मन्त्राः सन्ति तत्र तत्रैव तेषामर्थान् यथावदुदाहरिष्यामः ।

भाषार्थ

(सुमित्रिया न०) हे परमेश्वर ! आप की कृपा से (आपः) अर्थात् जो प्राण और जल आदि पदार्थ तथा (ओषधयः) सोमलता आदि सब ओषधि (नः) हमारे लिये (सुमित्रियाः) (सन्तु) सुखकारक हों, तथा (दुर्मित्रियाः) जो दुष्ट, प्रमादी, हमारे द्वेषी लोग हैं और हम जिन दुष्टों से द्वेष करते हैं उनके लिये विरोधिनी हों । क्योंकि जो धर्मात्मा और पथ्य के करनेवाले मनुष्य हैं उन को ईश्वर के

रचे सब पदार्थ सुख देनेवाले होते हैं और जो कुपथ्य करनेवाले तथा पापी हैं उनके लिये सदा दुःख देनेवाले होते हैं। इत्यादि मन्त्र वैद्यकविद्या के मूल के प्रकाश करनेवाले हैं।

इति वैद्यकविद्याविषयः संक्षेपतः

अथ पुनर्जन्मविषयः संक्षेपतः

असुनीते पुनरस्मासु चक्षुः पुनः प्राणमिह नो धेहि भोगम्। ज्योक् पश्येम सूर्यमुच्चरन्तमनुमते मृडया नः स्वस्ति ॥ १ ॥ पुनर्नो असुं पृथिवी ददातु पुनर्द्यौर्देवी पुनरन्तरिक्षम्। पुनर्नः सोमस्तन्वं ददातु पुनः पूषा पथ्यां या स्वस्तिः ॥ २ ॥ ऋ० अ० ८। अ० १। व० २३। मं० १। २ ॥

भाष्यम्

एतेषामभि०—एतदादिमन्त्रेष्वत्र पूर्वजन्मानि पुनर्जन्मानि च प्रकाश्यन्त इति। (असुनीते०) असवः प्राणा नीयन्ते येन सोऽसुनीतिस्तत्सम्बुद्धौ हे असुनीते ईश्वर! मरणानन्तरं द्वितीयशरीरधारणे वयं सदा सुखिनो भवेम। (पुनरस्मा०) अर्थाद्यदा वयं पूर्वं शरीरं त्यक्त्वा द्वितीयशरीरधारणं कुर्मस्तदा (चक्षुः) चक्षुरित्युपलक्षणमिन्द्रियाणाम्, पुनर्जन्मनि सर्वाणीन्द्रियाण्यस्मासु धेहि। (पुनः प्राणमि०) प्राणमिति वायोरन्तःकरणस्योपलक्षणम्, पुनर्द्वितीयजन्मनि प्राणमन्तःकरणं च धेहि। एवं हे भगवन्! पुनर्जन्मसु (नः) अस्माकं (भोगं) भोगपदार्थान् (ज्योक्) निरन्तरमस्मासु धेहि। यतो वयं सर्वेषु जन्मसु (उच्चरन्तं) सूर्य्यं श्वासप्रश्वासात्मकं प्राणं प्रकाशमयं सूर्य्यलोकं च निरन्तरं पश्येम। (अनुमते) हे अनुमन्तः परमेश्वर! (नः) अस्मान् सर्वेषु जन्मसु (मृडय) सुखय, भवत्कृपया पुनर्जन्मसु (स्वस्ति) सुखमेव भवेदिति प्रार्थ्यते ॥ १ ॥ (पुनर्नो) हे भगवन्! भवदनुग्रहेण (नः) अस्मभ्यं (असुं) प्राणमन्नमयं बलं च (पृथिवी पुनर्ददातु), तथा (पुनर्द्यौः०) पुनर्जन्मनि द्यौर्देवी द्योतमाना सूर्य्यज्योतिरसुं ददातु, (पुनरन्तरिक्षम्) तथान्तरिक्षं पुनर्जन्मन्यसुं जीवनं ददातु, (पुनर्नः सोमस्त०) तथा सोम ओषधिसमूहजन्यो रसः पुनर्जन्मनि तन्वं शरीरं ददातु, (पुनः पूषा०) हे

परमेश्वर ! पुष्टिकर्त्ता भवान् (पथ्यां) पुनर्जन्मनि धर्ममार्गं ददातु, तथा सर्वेषु जन्मसु (या स्वस्तिः) सा भवत्कृपया नोऽस्मभ्यं सदैव भवत्विति प्रार्थ्यते भवान् ॥ १ ॥

भाषार्थ

(असुनीते०) हे सुखदायक परमेश्वर ! आप (पुनरस्मासु चक्षुः) कृपा करके पुनर्जन्म में हमारे बीच में उत्तम नेत्र आदि सब इन्द्रियां स्थापन कीजिये । तथा (पुनः प्राणं०) प्राण अर्थात् मन, बुद्धि, चित्त, अहंकार, बल, पराक्रम आदि युक्त शरीर पुनर्जन्म में कीजिये । (इह नो धेहि भोगं०) हे जगदीश्वर ! इस संसार अर्थात् इस जन्म और परजन्म में हम लोग उत्तम २ भोगों को प्राप्त हों । तथा (ज्योक् पश्येम सूर्य्यमुच्चरन्तम्) हे भगवन् आप की कृपा से सूर्य्यलोक, प्राण और आप को विज्ञान तथा प्रेम से सदा देखते रहें । (अनुमते मृडया नः स्वस्ति) हे अनुमते ! सब को मान देने हारे ! सब जन्मों में हम लोगों को (मृडय) सुखी रखिये । जिससे हम लोगों को स्वस्ति अर्थात् कल्याण हो ॥ १ ॥ (पुनर्नो असुं पृथिवी ददातु पु०) हे सर्वशक्तिमन् ! आप के अनुग्रह से हमारे लिये वारंवार पृथिवी प्राण को, प्रकाश चक्षु को और अन्तरिक्ष स्थानादि अवकाशों को देते रहें । (पुनर्नः सोमस्तन्वं ददातु) पुनर्जन्म में सोम अर्थात् ओषधियों का रस हम को उत्तम शरीर देने में अनुकूल रहे । तथा (पूषा०) पुष्टि करनेवाला परमेश्वर कृपा करके सब जन्मों में हम को सब दुःख निवारण करने वाली पथ्यरूप स्वस्ति को देवे ॥ २ ॥

पुनर्मनः पुनरायुर्म आगन् पुनः प्राणः पुनरात्मा म आगन् पुनश्चक्षुः पुनः श्रोत्रं म आगन् । वैश्वानरो अदब्धस्तनूपा अग्निर्नः पातु दुरितादवद्यात् ॥ ३ ॥ यजु० अ० ४ । मं० १५ ॥ पुनर्मैत्विन्द्रियं पुनरात्मा द्रविणं ब्राह्मणं च । पुनरग्नयो धिष्ण्या यथास्थाम कल्पन्तामिहैव ॥ ४ ॥ अथर्व० कां० ७ । अनु० ६ । सूक्त ६७ । मं० १ ॥ आ यो धर्माणि प्रथमः ससाद ततो वपूंषि कृणुषे पुरूणि । धास्युर्योनिं प्रथम आविवेशा यो वाचमनुदितां चिकेत ॥ ५ ॥ अथर्व० कां० ५ । अनु० १ । सूक्त १ । मं० २ ॥

भाष्यम्

(पुनर्मनः पु०) हे जगदीश्वर ! भवदनुग्रहेण विद्यादिश्रेष्ठगुणयुक्तं मन आयुश्च

(मे) मह्यमागन्पुनः पुनर्जन्मसु प्राप्नुयात्, (पुनरात्मा) पुनर्जन्मानि मदात्मा विचारः शुद्धः सन् प्राप्नुयात्, (पुनश्चक्षुः) चक्षुः श्रोत्रं च मह्यं प्राप्नुयात् । (वैश्वानरः) यः सकलस्य जगतो नयनकर्त्ता, (अदब्धः) दम्भादिदोषरहितः, (तनूपाः) शरीरादिरक्षकः, (अग्निः) विज्ञानानन्दस्वरूपः परमेश्वरः (पातु दुरि०) जन्मजन्मान्तरे दुष्टकर्मभ्योऽस्मान् पृथक्कृत्य पातु रक्षतु, येन वयं निष्पापा भूत्वा सर्वेषु जन्मसु सुखिनो भवेम ॥ ३ ॥ (पुनर्मे०) हे भगवन् ! पुनर्जन्मनीन्द्रियमर्थात् सर्वाणीन्द्रिया,एयात्मा प्राणधारको बलाख्यः, (द्रविणं) विद्यादिश्रेष्ठधनं, (ब्राह्मणं च) ब्रह्मनिष्ठात्वं, (पुनरग्नयः) मनुष्यशरीरं धारयित्वाऽऽह्वनीयाद्यग्न्याधानकरणं (मैतु) पुनः पुनर्जन्मस्वेतानि मामाप्नुवन्तु, (धिष्ण्या यथास्थाम) हे जगदीश्वर ! वयं यथा येन प्रकारेण पूर्वेषु जन्मसु धिष्ण्या धारणवत्या धिया सोत्तमशरीरेन्द्रिया आस्थाम तथैवहास्मिन् संसारे पुनर्जन्मानि बुद्ध्या सह स्वस्वकार्य्यकरणे समर्था भवेम, येन वयं केनापि कारणेन न कदाचिद्विकला भवेम ॥ ४ ॥ (आ यो ध०) यो जीवः (प्रथमः) पूर्वजन्मनि (धर्म्माणि) यादृशानि धर्मकार्य्याणि (आससाद) कृतवानस्ति, स (ततो वपूंषि०) तस्माद् धर्मकरणाद्बहून्युत्तमानि शरीराणि पुनर्जन्मनि कृणुषे धारयति । एवं यश्चाधर्मकृत्यानि चकार स नैव पुनः पुनर्मनुष्यशरीराणि प्राप्नोति, किन्तु पश्वादीनि हि शरीराणि धारयित्वा दुःखानि भुङ्क्ते । इदमेव मन्त्रार्धेनेश्वरो ज्ञापयति । (धास्युर्योनिं०) धास्यतीति धास्युरर्थात् पूर्वजन्मकृतपापपुण्यफलभोगशीलो जीवात्मा, (प्रथमः) पूर्वं देहं त्यक्त्वा, वायुजलौषध्यादिपदार्थान् (आविवेश) प्रविश्य, पुनः कृतपापपुण्यानुसारिणीं योनिमाविवेश प्रविशतीत्यर्थः । (यो वाचम०) यो जीवोऽनुदितामीश्वरोक्तां वेदवाणीं आ समन्ताद् विदित्वा धर्ममाचरति स पूर्ववद्विद्वच्छरीरं धृत्वा सुखमेव भुङ्क्ते । तद्विपरीताचरणस्तिर्य्यग्देहं धृत्वा दुःखभागी भवतीति विज्ञेयम् ॥ ५ ॥

भाषार्थ

(पुनर्मनः पुनरात्मा) हे सर्वज्ञ ईश्वर ! जब जब हम जन्म लेवें तब २ हम को शुद्ध मन, पूर्ण आयु, आरोग्यता, प्राण, कुशलतायुक्त जीवात्मा, उत्तम चक्षु और श्रोत्र प्राप्त हों, (वैश्वानरोऽदब्धः) जो विश्व में विराजमान ईश्वर है वह सब

जन्मों में हमारे शरीरों का पालन करे । (अग्निर्नः) सब पापों के नाश करने वाले आप हमको (पातु दुरितादवद्यात्) बुरे कामों और सब दुःखों से पुनर्जन्म में अलग रक्खें ॥ ३ ॥ (पुनर्मैत्विन्द्रियम्) हे जगदीश्वर ! आप की कृपा से पुनर्जन्म में मन आदि ग्यारह इन्द्रिय मुझ को प्राप्त हों, अर्थात् सर्वदा मनुष्य देह ही प्राप्त होता रहे । (पुनरात्मा) अर्थात् प्राणों को धारण करने हारा सामर्थ्य मुझ को प्राप्त होता रहे । जिससे दूसरे जन्म में भी हम लोग सौ वर्ष वा अच्छे आचरण से अधिक भी जीवें । (द्रविणं) तथा सत्यविद्यादि श्रेष्ठ धन भी पुनर्जन्म में प्राप्त होते रहें । (ब्राह्मणं च०) और सदा के लिये ब्रह्म जो वेद है उसका व्याख्यान सहित विज्ञान तथा आप ही में हमारी निष्ठा बनी रहे । (पुनरग्नयः) तथा सब जगत् के उपकार के अर्थ हम लोग अग्निहोत्रादि यज्ञ को करते रहें । (धिष्ण्या यथास्थाम) हे जगदीश्वर ! हम लोग जैसे पूर्वजन्मों में शुभ गुण धारण करनेवाली बुद्धि से उत्तम शरीर और इन्द्रियसहित थे वैसे ही इस संसार में पुनर्जन्म में भी बुद्धि के साथ मनुष्यदेह के कृत्य करने में समर्थ हों । ये सब शुद्धबुद्धि के साथ (मैतु) मुझ को यथावत् प्राप्त हों । (इहैव) जिन से हम लोग इस संसार में मनुष्यजन्म को धारण करके धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष को सदा सिद्ध करें और इस सामग्री से आप की भक्ति को प्रेम से सदा किया करें । जिस करके किसी जन्म में हमको कभी दुःख प्राप्त न हो ॥ ४ ॥ (आ यो धर्माणि०) जो मनुष्य पूर्वजन्म में धर्माचरण करता है, (ततो वपूंषि कृणुषे पुरूणि) उस धर्माचरण के फल से अनेक उत्तम शरीरों को धारण करता और अधर्मात्मा मनुष्य नीच शरीर को प्राप्त होता है । (धास्युर्योनिं०) जो पूर्वजन्म में किए हुए पाप पुण्य के फलों को भोग करने के स्वभावयुक्त जीवात्मा है वह पूर्व शरीर को छोड़ के वायु के साथ रहता है । (पुनः०) जल ओषधि वा प्राण आदि में प्रवेश करके वीर्य्य में प्रवेश करता है तदनन्तर योनि अर्थात् गर्भाशय में स्थिर होके पुनः जन्म लेता है । (यो वाचमनुदितां चिकेत) जो जीव अनुदित वाणी अर्थात् जैसी ईश्वर ने वेदों में सत्यभाषण करने की आज्ञा दी है वैसा ही (आचिकेत) यथावत् जान के बोलता है और धर्म ही में (ससाद) यथावत् स्थित रहता है, वह मनुष्ययोनि में उत्तम शरीर धारण करके अनेक सुखों को भोगता है और जो अधर्माचरण करता है वह अनेक नीच शरीर अर्थात् कीट पतङ्ग पशु आदि के शरीर को धारण करके अनेक दुःखों को भोगता है ॥ ५ ॥

द्वे सृती अशृणवं पितॄणामहं देवानामुत मर्त्यानाम् । ताभ्यामिदं विश्वमेजत्समेति यदन्तरा पितरं मातरं च ॥ ६ ॥ य० अ० १६ । मं० ४७ ॥ मृतश्चाहं पुनर्जातो जातश्चाहं पुनर्मृतः । नानायोनिसहस्राणि मयोषितानि यानि वै ॥ १ ॥ आहारा विविधा भुक्ताः पीता नानाविधाः स्तनाः । मातरो विविधा दृष्टाः पितरः सुहृदस्तथा ॥ २ ॥ अवाङ्मुखः पीड्यमानो जन्तुश्चैव समन्वितः ॥ निरु० अ० १४ । खं० ६ ॥

भाष्यम्

(द्वे सृती०) अस्मिन् संसारे पापपुण्यफलभोगाय द्वौ मार्गौ स्तः । एकः पितॄणां ज्ञानिनां, देवानां विदुषां च द्वितीयः (मर्त्यानां) विद्याविज्ञानरहितानां मनुष्याणाम् । तयोरेकः पितृयानो, द्वितीयो देवायानश्चेति । यत्र जीवो मातापितृभ्यां देहं धृत्वा पापपुण्यफले सुखदुःखे पुनः पुनर्भुङ्क्ते, अर्थात् पूर्वापरजन्मानि च धारयति सा पितृयानाख्या सृतिरस्ति । तथा यत्र मोक्षाख्यं पदं लब्ध्वा जन्ममरणाख्यात् संसाराद्विमुच्यते सा द्वितीया सृतिर्भवति । तत्र प्रथमायां सृतौ पुण्यसञ्चयफलं भुक्त्वा पुनर्जायते म्रियते च । द्वितीयायां च सृतौ पुनर्न जायते न म्रियते चेत्यहमेवम्भूते द्वे सृती (अशृणवं) श्रुतवानस्मि । (ताभ्यामिदं विश्व०) पूर्वोक्ताभ्यां द्वाभ्यां मार्गाभ्यां सर्वं जगत् (एजत्समेति०) कम्पमानं गमनागमने समेति सम्यक् प्राप्नोति । (यदन्तरा पितरं मातरं च) यदा जीवः पूर्वं शरीरं त्यक्त्वा वायुजलौषध्यादिषु भ्रमित्वा पितृशरीरं मातृशरीरं वा प्रविश्य पुनर्जन्म प्राप्नोति तदा स सशरीरो जीवो भवतीति विज्ञेयम् ॥ ६ ॥ अत्र मृतश्चाहं पुनर्जात इत्यादि निरुक्तकारैरपि पुनर्जन्मधारणमुक्तमिति बोध्यम् ॥७॥

स्वरसवाही विदुषोऽपि तथारूढोऽभिनिवेशः ॥ ८ ॥ पातं० अ० १ । पा० २ । सू० ६ ॥ पुनरुत्पत्तिः प्रेत्यभावः ॥ ६ ॥ न्या० अ० १ । आ० १ । सू० १६ ॥

(स्वरस०) योगशास्त्रे पतञ्जलिमहामुनिना तदुपरि भाष्यकर्त्रा वेदव्यासेन च पुनर्जन्मसद्भावः प्रतिपादितः । या सर्वेषु प्राणिषु जन्मारभ्य मरणत्रासाख्या प्रवृत्तिर्दृश्यते तया पूर्वापरजन्मानि भवन्तीति विज्ञायते । कुतः । जातमात्रकृमिरपि मरणत्रासमनुभवति । तथा विदुषोऽप्यनुभवो भवतीत्यतो जीवेनानेकानि शरीराणि

धार्य्यन्ते । यदि पूर्वजन्मनि मरणानुभवो न भवेच्चेर्त्तर्हि तत्संस्कारोपि न स्यान्नैव संस्कारेण विना स्मृतिर्भवति स्मृत्या विना मरणत्रासः कथं जायेत । कुतः । प्राणिमात्रस्य मरणभयदर्शनात् पूर्वापरजन्मानि भवन्तीति वेदितव्यम् ॥ ८ ॥ (पुनरु०) तथा महाविदुषा गोतमेनर्षिणा न्यायदर्शने तद्भाष्यकर्त्रा वात्स्यायनेनापि पुनर्जन्मभावो मतः यत् पूर्वशरीरं त्यक्त्वा पुनर्द्वितीयशरीरधारणं भवति तत्प्रेत्यभावाख्यः पदार्थो भवतीति विज्ञेयम् । प्रेत्यार्थान्मरणं प्राप्य भावोऽर्थात् पुनर्जन्म धृत्वा जीवो देहवान् भवतीत्यर्थः ॥ ९ ॥

भाषार्थ

(द्वे सृती०) इस संसार में हम दो प्रकार के जन्मों को (अशृणवम्) सुनते हैं । एक मनुष्य-शरीर का धारण करना और दूसरा नीच गति से पशु, पक्षी, कीट, पतङ्ग, वृक्ष आदि का होना । इन में मनुष्यशरीर के तीन भेद हैं । एक पितृ अर्थात् ज्ञानी होना, दूसरा देव अर्थात् सब विद्याओं को पढ़के विद्वान् होना, तीसरा मर्त्य अर्थात् साधारण मनुष्यशरीर का धारण करना । इन में प्रथम गति अर्थात् मनुष्य-शरीर पुण्यात्माओं और पुण्यपाप तुल्यवालों को होता है और दूसरा जो जीव अधिक पाप करते हैं उनके लिये है । (ताभ्यामिदं विश्वमेजत्समेति०) इन्हीं भेदों से सब जगत् के जीव अपने २ पुण्य और पापों के फल भोग रहे हैं । (यदन्तरा पितरं मातरं च) जीवों को माता और पिता के शरीर में प्रवेश करके जन्मधारण करना, पुनः शरीर का छोड़ना, फिर जन्म को प्राप्त होना वारंवार होता है । जैसा वेदों में पूर्वापर जन्म के धारण करने का विधान किया है वैसा ही निरुक्तकार ने भी प्रतिपादन किया है । जब मनुष्य को ज्ञान होता है तब वह ठीक २ जानता है कि (मृतश्चाहं पु०) मैंने अनेक वार जन्ममरण को प्राप्त होकर नाना प्रकार के हज़ारह गर्भाशयों का सेवन किया ॥ १ ॥ (आहारा वि०) अनेक प्रकार के भोजन किये; अनेक माताओं के स्तनों का दुग्ध पिया, अनेक माता पिता और सुहृदों को देखा ॥ २ ॥ (अवाङ्मुखः) मैंने गर्भ में नीचे मुख ऊपर पग इत्यादि नाना प्रकार की पीड़ाओं से युक्त होके अनेक जन्म धारण किये, परन्तु अब इन महादुःखों से तभी छूटूंगा कि जब परमेश्वर में पूर्ण प्रेम और उसकी आज्ञा का पालन करूंगा । नहीं तो इस जन्ममरणरूप दुःखसागर के पार जाना कभी नहीं हो सकता । तथा योगशास्त्र में भी पुनर्जन्म का विधान किया है (स्वरस०) (सर्वस्य प्रा०) ।

हरएक प्राणियों की यह इच्छा नित्य देखने में आती है कि (भूयासमिति) अर्थात् मैं सदैव सुखी बना रहूं, मरूं नहीं । यह इच्छा कोई भी नहीं करता कि (मा न भूवं) अर्थात् मैं न होऊं । ऐसी इच्छा पूर्वजन्म के अभाव से कभी नहीं हो सकती । यह अभिनिवेश क्लेश कहलाता है जो कि कृमिपर्य्यन्त को भी मरण का भय बराबर होता है । यह व्यवहार पूर्वजन्म की सिद्धि को जनाता है ॥ तथा न्याय-दर्शन के (पुनरु०) सू०, और उसी के वात्स्या० भा० में भी कहा है कि जो उत्पन्न अर्थात् किसी शरीर को धारण करता है वह मरण अर्थात् शरीर को छोड़ के पुनरुत्पन्न दूसरे शरीर को भी अवश्य प्राप्त होता है । इस प्रकार मर के पुनर्जन्म लेने को प्रेत्यभाव कहते हैं ॥ ९ ॥

अत्र केचिदेकजन्मवादिनो वदन्ति । यदि पूर्वजन्मासीत्तर्हि तत्स्मरणं कुतो न भवतीत्यत्र ब्रूमः । भोः ! ज्ञाननेत्रमुद्घाट्य द्रष्टव्यमस्मिन्नेव शरीरे जन्मतः पञ्चवर्षपर्य्यन्तं यद्यत्सुखं दुःखं च भवति, यच्च जागरितावस्थास्थानां सर्वव्यवहाराणां सुषुप्त्यवस्थायां च, तदनुभूतस्मरणं न भवति, पूर्वजन्मवृत्तस्मरणस्य तु का कथा । (प्रश्नः) यदि पूर्वजन्मकृतयोः पापपुण्ययोः सुखदुःखफले हीश्वरोऽस्मिन् जन्मनि ददाति तयोश्चास्माकं साक्षात्काराभावात् सोऽन्यायकारी भवति, नातोऽस्माकं शुद्धिश्चेति ? । अत्र ब्रूमः । द्विविधं ज्ञानं भवत्येकं प्रत्यक्षं, द्वितीयमानुमानिकं च । यथा कस्यचिद्वैद्यस्यावैद्यस्य च शरीरे ज्वरावेशो भवेत्तत्र खलु वैद्यस्तु विद्यया कार्य्यकारणसङ्गत्यनुमानतो ज्वरनिदानं जानाति नापरश्च, परन्तु वैद्यकविद्यारहितस्यापि ज्वरस्य प्रत्यक्षत्वात् किमपि मया कुपथ्यं पूर्वं कृतमिति जानाति, विना कारणेन कार्य्यं नैव भवतीति दर्शनात् । तथैव न्यायकारीश्वरोपि विना पापपुण्याभ्यां न कस्मैचित् सुखं दुःखं च दातुं शक्नोति । संसारे नीचोच्चसुखिदुःखिदर्शनाद् विज्ञायते पूर्वजन्मकृते पापपुण्ये बभूवतुरिति । अत्रैकजन्मवादिनामन्येऽपीदृशाः प्रश्नाः सन्ति, तेषां विचारेणोत्तराणि देयानि । किञ्च, न बुद्धिमतः प्रत्यखिललेखनं योग्यं भवति तेह्युद्देश्यमात्रेणाधिकं जानन्ति । ग्रन्थोपि भूयान्न भवेदिति मत्वाऽत्राधिकं नोल्लिख्यते ।

भाषार्थ

इसमें अनेक मनुष्य ऐसा प्रश्न करते हैं कि जो पूर्वजन्म होता है तो हम को उस का ज्ञान इस जन्म में क्यों नहीं होता ? (उत्तर) आंख खोल के देखो कि

जब इसी जन्म में जो २ सुख दुःख तुमने बाल्यावस्था में अर्थात् जन्म से पांच वर्ष पर्य्यन्त पाये हैं उनका ज्ञान नहीं रहता, अथवा जो कि नित्य पठन पाठन और व्यवहार करते हैं उनमें से भी कितनी ही बातें भूल जाते हैं, तथा निद्रा में भी यही हाल हो जाता है कि अब के किये का भी ज्ञान नहीं रहता, जब इसी जन्म के व्यवहारों को इसी शरीर में भूल जाते हैं तो पूर्व शरीर के व्यवहारों का कब ज्ञान रह सकता है। तथा ऐसा भी प्रश्न करते हैं कि जब हम को पूर्वजन्म के पाप पुण्य का ज्ञान नहीं होता और ईश्वर उनका फल सुख वा दुःख देता है इससे ईश्वर का न्याय वा जीवों का सुधार कभी नहीं हो सकता ? (उत्तर) ज्ञान दो प्रकार का होता है। एक प्रत्यक्ष दूसरा अनुमानादि से। जैसे एक वैद्य और दूसरा अवैद्य, इन दोनों को ज्वर आने से वैद्य तो इस का पूर्व निदान जान लेता है और दूसरा नहीं जान सकता। परन्तु उस पूर्व कुपथ्य का कार्य्य जो ज्वर है वह दोनों को प्रत्यक्ष होने से वे जान लेते हैं कि किसी कुपथ्य से ही यह ज्वर हुआ है अन्यथा नहीं। इस में इतना विशेष है कि विद्वान् ठीक २ रोग के कारण और कार्य्य को निश्चय करके जानता है और वह अविद्वान् कार्य्य को तो ठीक २ जानता है परन्तु कारण में उसको यथावत् निश्चय नहीं होता। वैसे ही ईश्वर न्यायकारी होने से किसी को विना कारण से सुख वा दुःख कभी नहीं देता। जब हम को पुण्य पाप का कार्य्य सुख और दुःख प्रत्यक्ष है तब हम को ठीक निश्चय होता है कि पूर्वजन्म के पाप पुण्यों के विना उत्तम मध्यम और नीच शरीर तथा बुद्ध्यादि पदार्थ कभी नहीं मिल सकते। इससे हम लोग निश्चय करके जानते हैं कि ईश्वर का न्याय और हमारा सुधार ये दोनों काम यथावत् बनते हैं। इत्यादि प्रश्नोत्तर बुद्धिमान् लोग अपने विचार से यथावत् जान लेवें। मैं यहां इस विषय के बढ़ाने की आवश्यकता नहीं देखता।

इति पुनर्जन्मविषयः संक्षेपतः

अथ विवाहविषयः संक्षेपतः

गृभ्णामि ते सौभगत्वाय हस्तं मया पत्या जरदष्टिर्यथासः। भगो अर्य्यमा सविता पुरन्धिर्मह्यं त्वा दुर्गार्हपत्याय देवाः ॥ १ ॥ इहैव स्तं मा वियौष्टं विश्वमायुर्व्यश्नुतम्। क्रीडन्तौ पुत्रैर्नप्तृभिर्मो-

दमानौ स्वे गृहे ॥ २ ॥ ऋ० अ० ८ । अ० ३ । व० २७ । २८ ॥ मं० १ । २ ॥

भाष्यम्

अनयोरभि०—अत्र विवाहविधानं क्रियत इति । हे कुमारि युवतिकन्ये ! (सौभगत्वाय) सन्तानोत्पत्त्यादिप्रयोजनसिद्धये (ते) तव हस्तं (गृभ्णामि) गृह्णामि, त्वया सहाहं विवाहं करोमि, त्वं च मया सह । हे स्त्रि ! (यथा) येन प्रकारेण (मया पत्या) सह (जरदष्टिः) (आसः) जरावस्थां प्राप्नुयास्तथैव त्वया स्त्रिया सह जरदष्टिरहं भवेयं वृद्धावस्थां प्राप्नुयाम । एवमावां सम्प्रीत्या परस्परं धर्ममानन्दं कुर्य्यावहि । (भगः) सकलैश्वर्य्यसम्पन्नः, (अर्य्यमा) न्यायव्यवस्थाकर्त्ता, (सविता) सर्वजगदुत्पादकः, (पुरन्धिः) सर्वजगद्धारकः परमेश्वरः (मह्यं गार्हपत्याय) गृहकार्य्याय त्वां मदर्थं दत्तवान् , तथा (देवाः) अत्र सर्वे विद्वांसः साक्षिणः सन्ति । यद्यावां प्रतिज्ञोल्लंघनं कुर्य्यावहि तर्हि परमेश्वरदण्ड्यौ विद्वद्दण्ड्यौ च भवेवेति ॥ १ ॥ विवाहं कृत्वा परस्परं स्त्रीपुरुषौ कीदृशवर्त्तमानौ भवेतामेतदर्थमीश्वर आज्ञां ददाति (इहैव स्तं०) हे स्त्रीपुरुषौ ! युवां द्वाविहास्मिल्लोके गृहाश्रमे सुखेनैव सदा (वस्तम्) निवासं कुर्यातम् , (मा वियौष्टं) तथा कदाचिद्विरोधेन देशान्तरगमनेन वा वियुक्तौ वियोगं प्राप्तौ मा भवेताम् । एवम्मदाशीर्वादेन धर्मं कुर्वाणौ सर्वोपकारिणौ मद्भक्तिमाचरन्तौ (विश्वमायुर्व्यश्नुतम्) विविधसुखरूपमायुः प्राप्नुतम् । पुनः (स्वे गृहे) स्वकीये गृहे पुत्रैर्नप्तृभिश्च सह मोदमानौ सर्वानन्दं प्राप्नुवन्तौ (क्रीडन्तौ) सद्धर्मक्रिया कुर्वन्तौ सदैव भवतम् । इत्यनेनाप्येकस्याः स्त्रिया एक एव पतिर्भवत्वेकस्य पुरुषस्यैकैव स्त्री चेति । अर्थादनेकस्त्रीभिः सह विवाहनिषेधो नरस्य तथाऽनेकैः पुरुषैः सहैकस्याः स्त्रियाश्चेति, सर्वेषु वेदमन्त्रेष्वेकवचनस्यैव निर्देशात् । एवं विवाहविधायका वेदेष्वनेके मन्त्राः सन्तीति विज्ञेयम् ।

भाषार्थ

(गृभ्णामि ते) (सौभगत्वाय हस्तं) हे स्त्रि ! मैं सौभाग्य अर्थात् गृहाश्रम में सुख के लिये तेरा हस्त ग्रहण करता हूं और इस बात की प्रतिज्ञा करता हूं कि जो काम तुझ को अप्रिय होगा उसको मैं कभी न करूंगा । ऐसे ही स्त्री भी पुरुष से कहे कि जो व्यवहार आपको अप्रिय होगा उसको मैं भी कभी न करूंगी । और हम

दोनों व्यभिचारादि दोषरहित होके वृद्धावस्थापर्य्यन्त परस्पर आनन्द के व्यवहारों को करेंगे। हमारी इस प्रतिज्ञा को सब लोग सत्य जानें कि इससे उलटा काम कभी न किया जायगा। (भगः) जो ऐश्वर्यवान्, (अर्यमा) सब जीवों के पाप पुण्य के फलों को यथावत् देने वाला, (सविता) सब जगत् का उत्पन्न करने और सब ऐश्वर्य का देने वाला तथा (पुरन्धिः) सब जगत् का धारण करने वाला परमेश्वर है वही हमारे दोनों के बीच में साक्षी है। तथा (मह्यं त्वा०) परमेश्वर और विद्वानों ने मुझ को तेरे लिये और तुझ को मेरे लिये दिया है कि हम दोनों परस्पर प्रीति करेंगे तथा उद्योगी होकर घर का काम अच्छी तरह से करेंगे और मिथ्याभाषणादि से बचकर सदा धर्म ही में वर्त्तेंगे। सब जगत् का उपकार करने के लिये सत्यविद्या का प्रचार करेंगे और धर्म से पुत्रों को उत्पन्न करके उनको सुशिक्षित करेंगे इत्यादि प्रतिज्ञा हम ईश्वर की साक्षी से करते हैं कि इन नियमों का ठीक २ पालन करेंगे। दूसरी स्त्री और दूसरे पुरुष से मन से भी व्यभिचार न करेंगे। (देवाः) हे विद्वान् लोगो! तुम भी हमारे साक्षी रहो कि हम दोनों गृहाश्रम के लिये विवाह करते हैं। फिर स्त्री कहे कि मैं इस पति को छोड़ के मन, वचन और कर्म से भी दूसरे पुरुष को पति न मानूंगी। तथा पुरुष भी प्रतिज्ञा करे कि मैं इसके सिवाय दूसरी स्त्री को अपने मन, कर्म और वचन से कभी न चाहूंगा ॥१॥ (इहैव स्तं०) विवाहित स्त्री पुरुषों के लिये परमेश्वर की आज्ञा है कि तुम दोनों गृहाश्रम के शुभ व्यवहारों में रहो। (मा वियौष्टं) अर्थात् विरोध करके अलग कभी मत हो और व्यभिचार भी किसी प्रकार का मत करो। ऋतुगामित्व से सन्तानों की उत्पत्ति, उनका पालन और सुशिक्षा, गर्भस्थिति के पीछे एक वर्ष पर्य्यन्त ब्रह्मचर्य्य और लड़कों को प्रसूता स्त्री का दुग्ध बहुत दिन न पिलाना इत्यादि श्रेष्ठ व्यवहारों से (विश्वमा०) सौ (१००) वा १२५ वर्ष पर्यन्त आयु को सुख से भोगो। (क्रीडन्तौ०) अपने घर में आनन्दित होके पुत्र और पौत्रों के साथ नित्य धर्मपूर्वक क्रीड़ा करो। इससे विपरीत व्यवहार कभी न करो और सदा मेरी आज्ञा में वर्त्तमान रहो। इत्यादि विवाहविधायक वेदों में बहुत मन्त्र हैं। उनमें से कई एक मन्त्र संस्कारविधि में भी लिखे हैं वहां देख लेना।

इति संक्षेपतो विवाहविषयः

अथ नियोगविषयः संक्षेपतः

कुहस्विद्दोषा कुह वस्तोरश्विना कुहाभिपित्वं करतः कुहोषतुः । को वां शयुत्रा विधवेव देवरं मर्य्यं न योषा कृणुते सधस्थ आ ॥ १ ॥ ऋ० अ० ७ । अ० ८ । व० १८ । मं० २ ॥ इयं नारी पतिलोकं वृणाना निपद्यत उप त्वा मर्त्य प्रेतम् । धर्मं पुराणमनुपालयन्ती तस्यै प्रजां द्रविणं चेह धेहि ॥ २ ॥ अथर्व० कां० १८ । अनु० ३ । सू० १ । मं० १ ॥ उदीर्ष्व नार्य्यभि जीवलोकं गतासुमेतमुप शेष एहि । हस्तग्राभस्य दिधिषोस्तवेदं पत्युर्जनित्वमभि सं बभूथ ॥ ३ ॥ ऋ० मं० १० । सू० १८ । मं० ८ ॥

भाष्यम्

एषामभि०—अत्र विधवाविस्त्रीकनियोगव्यवस्था विधीयत इति । (कुहस्विद्दोषा) हे विवाहितौ स्त्रीपुरुषौ ! युवां (कुह) कस्मिन्स्थाने (दोषा) रात्रौ (वस्तोः) वसथः, (कुह० अश्विना) दिवसे च क्व वासं कुरुथः, (कुहाभि०) क्वाभिपित्वं प्राप्तिं (करतः) कुरुतः, (कुहोषतुः) क्व युवयोर्निजवासस्थानमऽस्ति, (को वां शयुत्रा) शयनस्थानं युवयोः क्वास्ति । इति स्त्रीपुरुषौ प्रति प्रश्नेन द्विवचनोच्चारणेन चैकस्य पुरुषस्यैकैव स्त्री कर्तुं योग्यास्ति । तथैकस्याः स्त्रिया एक एव पुरुषश्च, द्वयोः परस्परं सदैव प्रीतिर्भवेन्न कदाचिद्वियोगव्यभिचारौ भवेतामिति द्योत्यते । (विधवेव देवरं) कं केव ? यथा देवरं द्वितीयं वरं नियोगेन प्राप्तं विधवा इव । अत्र प्रमाणम् । देवरः कस्माद् द्वितीयो वर उच्यते ॥ निरु० अ० ३ । खं० १५ ॥ विधवाया द्वितीयपुरुषेण सह नियोगकरणे आज्ञास्ति, तथा पुरुषस्य च विधवया सह । विधवा स्त्री मृतकस्त्रीकपुरुषेण सहैव सन्तानार्थं नियोगं कुर्य्यान्न कुमारेण सह, तथा कुमारस्य विधवया सह च । अर्थात् कुमारयोः स्त्रीपुरुषयोरेकवारमेव विवाहः स्यात्, पुनरेवं नियोगश्च । नैव द्विजेषु द्वितीयवारं विवाहो विधीयते । पुनर्विवाहस्तु खलु शूद्रवर्ण एव विधीयते, तस्य विद्याव्यवहाररहितत्वात् । नियोजितौ स्त्रीपुरुषौ कथं परस्परं वर्त्तेतामित्यत्राह । (मर्यं न योषा) यथा विवाहितं मनुष्यं (सधस्थे) समानस्थाने सन्तानार्थं योषा विवाहिता स्त्री (कृणुते) आकृणुते, तथैव विधवा विगतस्त्रीकश्च सन्तानोत्पत्तिकरणार्थं परस्परं

नियोगं कृत्वा विवाहितस्त्रीपुरुषवद्वर्त्तेयाताम् ।। १ ॥ (इयं नारी०) इयं विधवा नारी (प्रेतं) मृतं पतिं विहाय (पतिलोकं) पतिसुखं (वृणाना) स्वीकर्तुमिच्छन्ती सती (मर्त्य) हे मनुष्य ! (त्वा) त्वामुपनिपद्यते, त्वां पतिं प्राप्नोति, तव समीपं नियोगविधानेनागच्छति, तां त्वं गृहाणाऽस्यां सन्तानान्युत्पादय। कथम्भूता सा ? (धर्मं पुराणं) वेदप्रतिपाद्यं सनातनं धर्म्ममनुपालयन्ती सती त्वां नियोगेन पतिं वृणुते। त्वमपीमां वृणु। (तस्यै) विधवायै (इह) अस्मिन् समये लोके वा (प्रजां धेहि) त्वमस्यां प्रजोत्पत्तिं कुरु, (द्रविणं) द्रव्यं वीर्य्यं (च) अस्यां धेहि, अर्थात् गर्भाधानं कुरु ॥ २ ॥ (उदीर्ष्व ना०) हे विधवे ! नारि ! (एतं) (गतासुं) गतप्राणं मृतं विवाहितं पतिं त्यक्त्वा (अभिजीवलोकं) जीवन्तं देवरं द्वितीयवरं पतिं (एहि) प्राप्नुहि, (उपशेषे) तस्यैवोप शेषे सन्तानोत्पादनाय वर्त्तस्व। तत्सन्तानं (हस्तग्राभस्य) विवाहे संगृहीतहस्तस्य पत्युः स्यात्। यदि नियुक्तपत्यर्थो नियोगः कृतस्तर्हि (दिधिषोः) तस्यैव सन्तानं भवेत्, (तवेदं) इदमेव विधवायास्तव (जनित्वं) सन्तानं भवति। हे विधवे ! विगतविवाहितस्त्रीकस्य पत्युश्चैतन्नियोगकरणार्थं त्वं (उदीर्ष्व) विवाहितपतिमरणानन्तरमिमं नियोगमिच्छ, तथा (अभिसंबभूथ) सन्तानोत्पत्तिं कृत्वा सुखसंयुक्ता भव ॥३॥

भाषार्थ

नियोग उसको कहते हैं जिससे विधवा स्त्री और जिस पुरुष की स्त्री मर गई हो वह पुरुष ये दोनों परस्पर नियोग करके सन्तानों को उत्पन्न करते हैं। नियोग करने में ऐसा नियम है कि जिस स्त्री का पुरुष वा किसी पुरुष की स्त्री मरजाय, अथवा उन में किसी प्रकार का स्थिर रोग होजाय वा नपुंसक वन्ध्यादोष पड़जाय और उनकी युवावस्था हो, तथा सन्तानोत्पत्ति की इच्छा हो तो उस अवस्था में उन का नियोग होना अवश्य चाहिये। इसका नियम आगे लिखते हैं। (कुहस्वित्०) अर्थात् तुम दोनों विवाहित स्त्री पुरुषों ने (दोषा) रात्रि में कहां निवास किया था ? (कुह वस्तोरश्विना) तथा दिन में कहां वसे थे ? (कुहाभिपित्वं करतः) तुमने अन्न वस्त्र धन आदि की प्राप्ति कहां की थी ? (कुहोषतुः) तुम्हारा निवासस्थान कहां है, (को वां शयुत्रा) रात्रि में तुम कहां शयन करते हो ? वेदों में पुरुष और स्त्री के विवाहविषय में एक ही वचन के प्रयोग करने से यह निश्चित हुआ कि वेदरीति से एक पुरुष के लिये एक ही स्त्री और एक स्त्री के लिये एक ही पुरुष होना

चाहिये अधिक नहीं। और न कभी इन द्विजों का पुनर्विवाह वा नियोग होना चाहिये। (विधवेव देवरम्) जैसे विधवा स्त्री देवर के साथ संतानोत्पत्ति करती है वैसे तुम भी करो। विधवा का जो दूसरा पति होता है उसको देवर कहते हैं। इससे यह नियम होना चाहिये कि द्विजों अर्थात ब्राह्मण क्षत्रिय वैश्यों में दो २ सन्तानों के लिये नियोग होना और शूद्रकुल में पुनर्विवाह मरणपर्य्यन्त के लिये होना चाहिये। परन्तु माता, गुरुपत्नी, भगिनी, कन्या, पुत्रवधू आदि के साथ नियोग करने का सर्वथा निषेध है। यह नियोग शिष्ट पुरुषों की सम्मति और दोनों की प्रसन्नता से हो सकता है। जब दूसरा गर्भ रहे तब नियोग छूट जाय और जो कोई इस नियम को तोड़े उसको द्विजकुल में से अलग करके शूद्रकुल में रख दिया जाय ॥ १ ॥ (इयं नारी पतिलोकं०) जो विधवा नारी पतिलोक अर्थात् पतिसुख की इच्छा करके नियोग किया चाहे तो (प्रेतम्) अर्थात् वह पति मरजाने के अनन्तर दूसरे पति को प्राप्त हो। (उप त्वा मर्त्य०) इस मंत्र में स्त्री और पुरुष को परमेश्वर आज्ञा देता है कि हे पुरुष ! (धर्मं पुराणमनुपालयन्ती) जो इस सनातन नियोग धर्म की रक्षा करने वाली स्त्री है उस के संतानोत्पत्ति के लिये (तस्यै प्रजां द्रविणं चेह धेहि) धर्म से वीर्य्यदान कर, जिस से वह प्रजा से युक्त होके आनन्द में रहे। तथा स्त्री के लिये भी आज्ञा है कि जब किसी पुरुष की स्त्री मरजाय और वह संतानोत्पत्ति किया चाहे तब स्त्री भी उस पुरुष के साथ नियोग करके उसको प्रजायुक्त करदे। इसलिये मैं आज्ञा देता हूं कि तुम मन, कर्म और शरीर से व्यभिचार कभी मत करो, किन्तु धर्मपूर्वक विवाह और नियोग से सन्तानोत्पत्ति करते रहो ॥ २ ॥ (उदीर्ष्व नारी) हे स्त्रि ! अपने मृतक पति को छोड़ के (अभिजीवलोकं) इस जीवलोक में (एतमुपशेष एहि) जो तेरी इच्छा हो तो दूसरे पुरुष के साथ नियोग करके सन्तानों को प्राप्त हो। नहीं तो ब्रह्मचर्य्याश्रम में स्थिर होकर कन्या और स्त्रियों को पढ़ाया कर। और जो नियोगधर्म में स्थित हो तो जब तक मरण न हो तब तक ईश्वर का ध्यान और सत्य धर्म के अनुष्ठान में प्रवृत्त होकर (हस्तग्राभस्य दिधिषोः) जो कि तेरा हस्त ग्रहण करनेवाला दूसरा पति है उस की सेवा किया कर। वह तेरी सेवा किया करे और उसका नाम दिधिषु है। (तवेदं) वह तेरे सन्तान की उत्पत्ति करनेवाला हो और जो तेरे लिये नियोग किया गया हो तो वह तेरा सन्तान हो। (पत्युर्जनित्वम०) और जो

नियुक्त पति के लिये नियोग हुआ हो तो वह संतान पुरुष का हो। इस प्रकार नियोग से अपने २ सन्तानों को उत्पन्न करके दोनों सदा सुखी रहो ॥ ३ ॥

इमां त्वमिन्द्र मीढ्वः सुपुत्रां सुभगां कृणु। दशास्यां पुत्राना धेहि पतिमेकादशं कृधि ॥ ४ ॥ सोमः प्रथमो विविदे गन्धर्वो विविद उत्तरः। तृतीयो अग्निष्टे पतिस्तुरीयस्ते मनुष्यजाः ॥ ५ ॥ ऋ० अष्ट० ८। अध्याय ३। व० २८। २७। मं० ५। ५॥ अदेवृघ्न्यपतिघ्नी हैधि शिवा पशुभ्यः सुयमा सुवर्चाः। प्रजावती वीरसूर्देवृकामा स्योनेममग्निं गार्हपत्यं सपर्य्य ॥ ६ ॥ अथर्व० कां० १४। अनु० २। मं० १८ ॥

भाष्यम्

इदानीं नियोगस्य सन्तानोत्पत्तेश्च परिगणनं क्रियते। कतिवारं नियोगः कर्त्तव्यः, कियन्ति सन्तानानि चोत्पाद्यानीति ?। तद्यथा—(इमां त्वमिन्द्र०) हे इन्द्र विवाहितपते ! (मीढ्वः) हे वीर्य्यदानकर्त्तः ! त्वामिमां विवाहितस्त्रियं वीर्य्यसेकेन गर्भयुक्तां कुरु। तां (सुपुत्रां) श्रेष्ठपुत्रवतीं (सुभगां) अनुत्तमसुखयुक्तां (कृणु) कुरु, (दशास्यां) अस्यां विवाहितस्त्रियां दशपुत्रानाधेहि उत्पादय, नातोऽधिकमिति। ईश्वरेण दशसन्तानोत्पादनस्यैवाज्ञा पुरुषाय दत्तेति विज्ञेयम्। तथा (पतिमेकादशं कृधि) हे स्त्रि ! त्वं विवाहितपतिं गृहीत्वैकादशपतिपर्य्यन्तं नियोगं कुरु। अर्थात् कस्याञ्चिदापत्कालावस्थायां प्राप्तायामेकैकस्याभावे सन्तानोत्पत्त्यर्थं दशमपुरुषपर्य्यन्तं नियोगं कुर्य्यात्। तथा पुरुषोऽपि विवाहितास्त्रियां मृतायां सत्यां सन्तानाभावे एकैकस्या अभावे दशम्या विधवया सह नियोगं करोत्विती‌च्छा नास्ति चेन्मा कुरुताम् ॥ ४ ॥ अथोत्तरोत्तरं पतीनां संज्ञा विधीयते। (सोमः प्रथमः) हे स्त्रि ! यस्त्वां प्रथमः (विविदे) विवाहितः पतिः प्राप्नोति स सौकुमार्य्यादिगुणयुक्तत्वात् सोमसंज्ञो भवति। (गन्धर्वो वि०) यस्तु (उत्तरः) द्वितीयो नियुक्तः पतिर्विधवां त्वां विविदे प्राप्नोति स गन्धर्वसंज्ञा लभते। कुतः। तस्य भोगाभिज्ञत्वात्। (तृतीयो अ०) येन सह त्वं तृतीयवारं नियोगं करोषि सोऽग्निसंज्ञो जायते। कुतः। द्वाभ्यां पुरुषाभ्यां भुक्तभोगया त्वया सह नियुक्तत्वादग्निदाहवत्तस्य शरीरस्थधातवो दह्यन्त इत्यतः। (तुरीयस्ते मनुष्यजाः) हे स्त्रि ! चतुर्थमारभ्य दशमपर्य्यन्तास्तव पतयः साधारणबलवीर्य्यत्वान्मनुष्यसंज्ञा भवन्तीति बोध्यम्। तथैव स्त्रीणामपि सोम्या, गन्धर्व्याग्नायी, मनुष्यजाः संज्ञास्त-

त्तद्गुणयुक्तत्वाद्भवन्तीति ॥ ५ ॥ (अदेवृघ्न्यपतिघ्नि) हे अदेवृघ्नि ! देवरसेविके ! हे अपतिघ्नि ! विवाहितपतिसेविके ! स्त्रि ! त्वं शिवा कल्याणगुणयुक्ता, (पशुभ्यः सुयमा सुवर्चाः) गृहकृत्येषु शोभनियमयुक्ता, गृहसम्बन्धिपशुभ्यो हिता, श्रेष्ठकान्तिविद्यासहिता, तथा (प्रजावती वीरसूः) प्रजापालनतत्परा, वीरसन्तानोत्पादिका, (देवृकामा) नियोगेन द्वितीयवरस्य कामनावती, (स्योना) सम्यक् सुखयुक्ता सुखकारिणी सती (इममग्निं गार्हपत्यं) गृहसम्बन्धिनमाहवनीयादिमग्निं, सर्वं गृहसम्बन्धिव्यवहारं च (सपर्य्य) प्रीत्या सम्यक् सेवय । अत्र स्त्रियाः पुरुषस्य चापत्काले नियोगव्यवस्था प्रतिपादितास्तीति वेदितव्यम् । इति ॥६॥

भाषार्थ

(इमां०) ईश्वर मनुष्यों को आज्ञा देता है कि हे इन्द्र ! पते ! ऐश्वर्ययुक्त ! तू इस स्त्री को वीर्यदान दे के सुपुत्र और सौभाग्ययुक्त कर । हे वीर्यप्रद ! (दशास्यां पुत्रानाधेहि) । पुरुष के प्रति वेद की यह आज्ञा है कि इस विवाहित वा नियोजित स्त्री में दश सन्तानपर्यन्त उत्पन्न कर अधिक नहीं । (पतिमेकादशं कृधि०) तथा हे स्त्री ! तू नियोग में ग्यारह पति तक कर । अर्थात् एक तो उन में प्रथम विवाहित और दशपर्यन्त नियोग के पति कर अधिक नहीं । इसकी यह व्यवस्था है कि विवाहित पति के मरने वा रोगी होने से दूसरे पुरुष वा स्त्री के साथ सन्तानों के अभाव में नियोग करे । तथा दूसरे को भी मरण वा रोगी होने के अनन्तर तीसरे के साथ करले । इसी प्रकार दशवें तक करने की आज्ञा है । परन्तु एक काल में एक ही वीर्यदाता पति रहे दूसरा नहीं । इसी प्रकार पुरुष के लिये भी विवाहित स्त्री के मरजाने पर विधवा के साथ नियोग करने की आज्ञा है और जब वह भी रोगी हो वा मरजाय तो सन्तानोत्पत्ति के लिये दशमस्त्रीपर्यन्त नियोग करलेवे ॥ ४ ॥ अब पतियों की संज्ञा कहते हैं (सोमः प्रथमो विविदे) उनमें से जो विवाहित पति होता है उसकी सोमसंज्ञा है, क्योंकि वह सुकुमार होने से मृदु आदि गुणयुक्त होता है । (गन्धर्वो विविद उत्तरः) दूसरा पति जो नियोग से होता है सो गन्धर्वसंज्ञक अर्थात् भोग में अभिज्ञ होता है । (तृतीयो अग्निष्टे पतिः०) तीसरा पति जो नियोग से होता है वह अग्निसंज्ञक अर्थात् तेजस्वी अधिक उमरवाला होता है । (तुरीयस्ते मनुष्यजाः) और चौथे से ले के दशमपर्य्यन्त जो नियुक्त पति होते हैं वे सब मनुष्यसंज्ञक कहाते हैं, क्योंकि वे मध्यम

होते हैं ॥ ५ ॥ (अदेवृघ्न्यपतिघ्नी०) हे विधवा स्त्रि ! तू देवर और विवाहित पति को सुख देने वाली हो किन्तु उनका अप्रिय किसी प्रकार से मत कर और वे भी तेरा अप्रिय न करें । (एधि शिवा०) इसी प्रकार मङ्गलकार्य्यों को करके सदा सुख बढ़ाते रहो । (पशुभ्यः सुयमा सुवर्चाः) घर के पशु आदि सब प्राणियों की रक्षा करके, जितेन्द्रिय होके, धर्मयुक्त श्रेष्ठकार्य्यों को करती रहो। तथा सब प्रकार के विद्यारूप उत्तम तेज को बढ़ाती जा । (प्रजावती वीरसूः) तू श्रेष्ठप्रजायुक्त हो । बड़े २ वीर पुरुषों को उत्पन्न कर । (देवृकामा) जो तू देवर की कामना करने वाली है, तो जब तेरा विवाहित पति न रहे वा रोगी तथा नपुंसक हो जाय तब दूसरे पुरुष से नियोग करके सन्तानोत्पत्ति कर । (स्योनेमग्निं गार्हपत्यं सपर्य्य) और तू इस अग्निहोत्रादि घर के कामों को सुखरूप होके सदा प्रीति से सेवन कर ॥ ६ ॥ इसी प्रकार से विधवा और पुरुष तुम दोनों आपत्काल में धर्म करके सन्तानोत्पत्ति करो और उत्तम उत्तम व्यवहारों को सिद्ध करते जाओ । गर्भहत्या वा व्यभिचार कभी मत करो । किन्तु नियोग ही कर लो, यही व्यवस्था सब से उत्तम है ।

इति नियोगविषयः संक्षेपतः

अथ राजप्रजाधर्मविषयः संक्षेपतः

त्रीणि राजाना विदथे पुरूणि परि विश्वानि भूषथः सदांसि । अपश्यमत्र मनसा जगन्वान्व्रते गन्धर्वाँ अपि वायुकेशान् ॥ १ ॥ ऋ० अ० ३ । अ० २ । व० २४ । मं० १ ॥ क्षत्रस्य योनिरसि क्षत्रस्य नाभिरसि । मा त्वा हिंसीन्मा मा हिंसीः ॥ २ ॥ य० अ० २० । मं० १ ॥ यत्र ब्रह्म च क्षत्रं च सम्यञ्चौ चरतः सह । तं लोकं पुण्यं प्रज्ञेषं* यत्र देवाः सहाग्निना ॥ ३ ॥ य० अ० २० । मं० २५ ॥

भाष्यम्

एषामभि०—अत्र मन्त्रेषु राजधर्मो विधीयत इति । यथा सूर्य्यचन्द्रौ राजानौ सर्वमूर्त्तद्रव्यप्रकाशकौ भवत,स्तथा सूर्य्यचन्द्रगुणशीलौ प्रकाशन्यायुक्तौ व्यवहारौ, त्रीणि सदांसि (भूषथः) भूषयतोऽलङ्कुरुतः । (विदथे) ताभिः सभाभिरेव

---

* प्रज्ञेषमिति यजुषि पाठः ॥

युद्धे (पुरूणि) बहूनि विजयादीनि सुखानि मनुष्याः प्राप्नुवन्ति । तथा (परि विश्वानि) राजधर्म्मादियुक्ताभिस्सभाभिर्विश्वस्थानि सर्वाणि वस्तूनि प्राणिजातानि च भूषयन्ति सुखयन्ति । इदमत्र बोध्यम् । एका राजार्य्यसभा, तत्र विशेषतो राजकार्य्याण्येव भवेयुः । द्वितीयाऽऽर्य्यविद्यासभा, तत्र विशेषतो विद्याप्रचारोन्नती एव कार्य्ये भवतः । तृतीयाऽऽर्य्यधर्मसभा, तत्र विशेषतो धर्मोन्नतिरधर्महानिश्चोपदेशेन कर्त्तव्या । परन्त्वेतास्तिस्रस्सभाःसामान्ये कार्य्ये मिलित्वैव सर्वानुत्तमान् व्यवहारान् प्रजासु प्रचारयेयुरिति । यत्रैतासु सभासु धर्मात्मभिर्विद्वद्भिः सारासारविचारेण कर्त्तव्याकर्त्तव्यस्य प्रचारो निरोधश्च क्रियते, तत्र सर्वाः प्रजाः सदैव सुखयुक्ता भवन्ति । यत्रैको मनुष्यो राजा भवति तत्र पीडिताश्चेति निश्चयः । (अपश्यमत्र) इदमत्राहमपश्यम् । ईश्वरोऽभिवदति, यत्र सभया राजप्रबन्धो भवति तत्रैव सर्वाभ्यः प्रजाभ्यो हितं जायत इति । (व्रते) यो मनुष्यः सत्याचरणे (मनसा) विज्ञानेन सत्यं न्यायं (जगन्वान्) विज्ञातवान्, स राजसभामर्हति नेतरश्च । (गन्धर्वान्) पूर्वोक्तासु सभासु गन्धर्वान् पृथिवीराजपालनादिव्यवहारेषु कुशलान् (अपि वायुकेशान्) वायुवद्द्रुतप्रचारेण विदितसर्वव्यवहारान् सभासदः कुर्य्यात् । केशास्सूर्य्यरश्मयस्तद्वत्सत्यन्यायप्रकाशकान्, सर्वहितं चिकीर्षून्, धर्मात्मनः, सभासदस्स्थापयितुमहमाज्ञापयामि, नेतरांश्चेतीश्वरोपदेशः सर्वैर्मन्तव्य इति ॥ १ ॥ (क्षत्रस्य योनिरसि) हे परमेश्वर ! त्वं यथा क्षत्रस्य राजव्यवहारस्य योनिर्निमित्तमसि, तथा (क्षत्रस्य नाभिरसि) एवं राजधर्मस्य त्वं प्रबन्धकर्त्तासि । तथैव नोऽस्मानपि कृपया राज्यपालननिमित्तान् क्षत्रधर्मप्रबन्धकर्तॄंश्च कुरु । (मात्वाहिꣳसीन्मा माहिꣳसीः) तथाऽस्माकं मध्यात् कोपि जनस्त्वा मा हिंसीदर्थाद्भवन्तं तिरस्कृत्य नास्तिको मा भवतु, तथा त्वं मां मा हिंसीरर्थान्मम तिरस्कारं कदाचिन्मा कुर्य्याः । यतो वयं भवत्सृष्टौ राज्याधिकारिणस्सदा भवेम ॥ २ ॥ (यत्र ब्रह्म च क्षत्रं च) यत्र देशे ब्रह्म परमेश्वरो, वेदो वा, ब्राह्मणो, ब्रह्मविच्चैतत्सर्वं ब्रह्म तथा (क्षत्रं) शौर्य्यधैर्य्यादिगुणवन्तो मनुष्याश्चैतौ द्वौ (सम्यञ्चौ) यथावद्विज्ञानयुक्तावविरुद्धौ (चरतः सह) तं लोकं तं देशं पुण्यं पुण्ययुक्तं (यज्ञेषं) यज्ञकरणेच्छाविशिष्टं विजानीमः, (यत्र देवाः सहाग्निना) यस्मिन्देशे विद्वांसः परमेश्वरेणाग्निहोत्रादियज्ञानुष्ठानेन च सह वर्त्तन्ते तत्रैव प्रजाः सुखिन्यो भवन्तीति विज्ञेयम् ॥ ३ ॥

भाषार्थ

सब जगत् का राजा एक परमेश्वर ही है और सब संसार उस की प्रजा है। इसमें यह यजुर्वेद के अठारहवें अध्याय के २९ वें मन्त्र के वचन का प्रमाण है। (वयं प्रजापतेः प्रजा अभूम) अर्थात् सब मनुष्य लोगों को निश्चय करके जानना चाहिये कि हम लोग परमेश्वर की प्रजा हैं और वही एक हमारा राजा है। (त्रीणि राजाना) तीन प्रकार की सभा ही को राजा मानना चाहिये, एक मनुष्य को कभी नहीं। वे तीनों ये हैं—प्रथम राज्यप्रबन्ध के लिये एक आर्य्यराजसभा कि जिससे विशेष करके सब राजकार्य्य ही सिद्ध किये जावें, दूसरी आर्य्यविद्यासभा कि जिससे सब प्रकार की विद्याओं का प्रचार होता जाय, तीसरी आर्य्यधर्मसभा कि जिससे धर्म का प्रचार और अधर्म की हानि होती रहे। इन तीन सभाओं से (विदथे) अर्थात् युद्ध में (पुरूणि परिविश्वानि भूषथः) सब शत्रुओं को जीत के नाना प्रकार के सुखों से विश्व को परिपूर्ण करना चाहिये ॥ १ ॥ (क्षत्रस्य योनिरसि) हे राज्य के देने वाले परमेश्वर ! आप ही राज्यसुख के परम कारण हैं. (क्षत्रस्य नाभिरसि) आप ही राज्य के जीवनहेतु हैं तथा क्षत्रियवर्ण के राज्य का कारण और जीवन सभा ही है, (मां त्वा हिꣳसीन्मा माहिꣳसीः) हे जगदीश्वर ! सब प्रजा आप को छोड़ के किसी दूसरे को अपना राजा कभी न माने और आप भी हम लोगों को कभी मत छोड़िये, किन्तु आप और हम लोग परस्पर सदा अनुकूल वर्त्तें ॥ २ ॥ (यत्र ब्रह्म च क्षत्रं च) जिस देश में उत्तम विद्वान् ब्राह्मण विद्यासभा और राजसभा विद्वान शूरवीर क्षत्रिय लोग ये सब मिल के राजकामों को सिद्ध करते हैं, वही देश धर्म और शुभ क्रियाओं से संयुक्त हो के सुख को प्राप्त होता है। (यत्र देवाः सहाग्निना०) जिस देश में परमेश्वर की आज्ञापालन और अग्निहोत्रादि सत्क्रियाओं से वर्त्तमान विद्वान् होते हैं वही देश सब उपद्रवों से रहित होके अखण्ड राज को नित्य भोगता है ॥ ३ ॥

देवस्य त्वा सवितुः प्रसवेऽश्विनोर्बाहुभ्यां पूष्णो हस्ताभ्याम्। अश्विनोर्भैषज्येन तेजसे ब्रह्मवर्चसायाभिषिञ्चामि। इन्द्रस्येन्द्रियेण बलाय श्रियै यशसेऽभिषिञ्चामि ॥ ४ ॥ कोऽसि कतमोऽसि कस्मै त्वा काय त्वा। सुश्लोक सुमङ्गल सत्यराजन् ॥ ५ ॥ शिरो मे श्रीर्यशो मुखं त्विषिः केशाश्च श्मश्रूणि। राजा मे प्राणो अमृतꣳसम्राट् चक्षुर्विराट् श्रोत्रम् ॥ ६ ॥ य० अ० २० । मं० ३ । ४ । ५ ॥

भाष्यम्

(देवस्य त्वा सवितुः) हे सभाध्यक्ष ! स्वप्रकाशमानस्य, सर्वस्य जगत उत्पादकस्य, परमेश्वरस्य (प्रसवे) अस्यां प्रजायां, (अश्विनोर्बाहुभ्यां) सूर्य्याचन्द्रमसोर्बाहुभ्यां बलवीर्याभ्यां, (पूष्णो हस्ताभ्यां) पुष्टिकर्तुः प्राणस्य ग्रहणदानाभ्यां, (अश्विनोर्भैषज्येन) पृथिव्यन्तरिक्षौषधिसमूहेन सर्वरोगनिवारकेण सह वर्त्तमानं त्वां (तेजसे) न्यायादिसद्गुणप्रकाशाय, (ब्रह्मवर्चसाय) पूर्णविद्याप्रचाराय, (अभिषिञ्चामि) सुगन्धजलैर्मूर्द्धानि मार्जयामि । तथा (इन्द्रस्येन्द्रियेण) परमेश्वरस्य परमैश्वर्य्येण विज्ञानेन च (बलाय) उत्तमबलार्थं, (श्रियै) चक्रवर्त्तिराज्यलक्ष्मीप्राप्त्यर्थं, त्वा, (यशसे) अतिश्रेष्ठकीर्त्यर्थं च (अभिषिञ्चामि) राजधर्मपालनार्थं स्थापयामीतीश्वरोपदेशः ॥ ४ ॥ (कोसि) हे परमात्मन् ! त्वं सुखस्वरूपोसि, भवानस्मानपि सुराज्येन सुखयुक्तान् करोतु । (कतमोसि) त्वमत्यन्तानन्दयुक्तोसि, अस्मानपि राजसभाप्रबन्धेनात्यन्तानन्दयुक्तान्सम्पादय । (कस्मै त्वा) अतो नित्यसुखाय त्वामाश्रयामः । तथा (काय त्वा) सुखरूपराज्यप्रदाय त्वामुपास्महे । (सुश्लोक) हे सत्यकीर्त्ते ! (सुमङ्गल) हे सुष्ठुमङ्गलमय सुमङ्गलकारक ! (सत्यराजन्) हे सत्यप्रकाशक सत्यराज्यप्रदेश्वरास्मद्राजसभाया भवानेव महाराजाधिराजोस्तीति वयं मन्यामहे ॥ ५ ॥ सभाध्यक्ष एवं मन्येत, (शिरो मे श्रीः) राज्यश्रीर्मे मम शिरोवत्, (यशो मुखं) उत्तमकीर्त्तिर्मुखवत्, (त्विषिः केशाश्च श्मश्रूणि) सत्यन्यायदीप्तिः मम केशश्मश्रुवत्, (राजा मे प्राणः) परमेश्वरः, शरीरस्थो जीवनहेतुर्वायुश्च मम राजवत्, (अमृतꣳसम्राट्) मोक्षाख्यं सुखं, ब्रह्म, वेदश्च* सम्राट् चक्रवर्त्तिराजवत्, (चक्षुर्विराट् श्रोत्रम्) सत्यविद्यादिगुणानां विविधप्रकाशकरणं श्रोत्रं चक्षुर्वत् । एवं सभासदोपि मन्येरन् । एतानि सभाध्यक्षस्य सभासदां चाङ्गानि सन्तीति सर्वे विजानीयुः ॥ ६ ॥

भाषार्थ

(देवस्य त्वा सवितुः) जो कोई राजा सभाध्यक्ष होने के योग्य हो उसका हम लोग अभिषेक करें और उससे कहें कि हे सभाध्यक्ष ! आप सब जगत् को प्रकाशित और उत्पन्न करनेवाले परमेश्वर की (प्रसवे) सृष्टि में प्रजापालन के लिये

* वेदश्चेति स्थाने 'च इत्येव पाठो ह० लि० भूमिकायाम् ॥

(अश्विनोर्बाहुभ्याम्) सूर्य्य चन्द्रमा के बल और वीर्य्य से (पूष्णो हस्ताभ्याम्) पुष्टि करने वाले प्राण को ग्रहण और दान की शक्तिरूप हाथों से आप को सभाध्यक्ष होने में स्वीकार करते हैं । (अश्विनोर्भैषज्येन) परमेश्वर कहता है कि पृथिवीस्थ और शुद्ध वायु इन ओषधियों से दिन रात में सब रोगों से तुझ को निवारण करके, (तेजसे) सत्यन्याय के प्रकाश, (ब्रह्मवर्चसाय) ब्रह्म के ज्ञान और विद्या की वृद्धि के लिये, तथा (इन्द्रस्येन्द्रियेण) परमेश्वर के परमैश्वर्य्य और आज्ञा के विज्ञान से (बलाय) उत्तम सेना, (श्रियै) सर्वोत्तम लक्ष्मी और (यशसे) सर्वोत्तम कीर्त्ति की प्राप्ति के लिये, मैं तुम लोगों को सभा करने की आज्ञा देता हूं कि यह आज्ञा राजा और प्रजा के प्रबन्ध के अर्थ है । इससे सब मनुष्य लोग इस का यथावत् प्रचार करें ॥ ४ ॥ हे महाराजेश्वर ! आप (कोसि कतमोसि) सुखस्वरूप अत्यन्त आनन्दकारक हैं, हम लोगों को भी सब आनन्द से युक्त कीजिये । (सुश्लोक) हे सर्वोत्तम कीर्त्ति के देने वाले ! तथा (सुमङ्गल) शोभनमङ्गलरूप आनन्द के करने वाले जगदीश्वर ! (सत्यराजन्) सत्यस्वरूप और सत्य के प्रकाश करने वाले हम लोगों के राजा तथा सब सुखों के देने वाले आप ही हैं । (कस्मै त्वा काय त्वा) उसी अत्यन्त सुख, श्रेष्ठ विचार और आनन्द के लिये हम लोगों ने आप का शरण लिया है, क्योंकि इसीसे हम को पूर्ण राज्य और सुख निस्संदेह होगा ॥ ५ ॥ सभाध्यक्ष, सभासद् और प्रजा को ऐसा निश्चय करना चाहिये कि (शिरो मे श्रीः) श्री मेरा शिरस्थानी, (यशो मुखं) उत्तम कीर्त्ति मेरा मुखवत्, (त्विषिः केशाश्च श्मश्रूणि) सत्यगुणों का प्रकाश मेरे केश और डाढ़ी मूछ के समान, तथा (राजा मे प्राणः) जो ईश्वर सब का आधार और जीवनहेतु है वही प्राणप्रिय मेरा राजा, (अमृतँसम्राट्) अमृतस्वरूप जो ब्रह्म और मोक्षसुख है वही मेरा चक्रवर्त्ती राजा, तथा (चक्षुर्विराट् श्रोत्रम्) जो अनेक सत्यविद्याओं के प्रकाशयुक्त मेरा श्रोत्र है वही मेरी आंख है ॥ ६ ॥

बाहू मे बलमिन्द्रियँहस्तौ मे कर्म वीर्य्यम् । आत्मा क्षत्रमुरो मर्म ॥ ७ ॥ पृष्ठीर्मे राष्ट्रमुदरमँसौ ग्रीवाश्च श्रोणी । ऊरू अरत्नी जानुनी विशो मेऽङ्गानि सर्वतः ॥ ८ ॥ य० अ० २० । मं० ७ । ८ ॥

भाष्यम्

(बाहू मे बलं) यदुत्तमं बलं तन्मम बाहुवदस्ति, (इन्द्रियँहस्तौ मे)

शुद्धं विद्यायुक्तं मनः, श्रोत्रादिकं च मम ग्रहणसाधनवत् । (कर्म वीर्य्यं) यदुत्तमपराक्रमधारणं तन्मम कर्मवत्, (आत्मा क्षत्रमुरो मम) यन्मम हृदयं तत् क्षत्रवत् ॥ ७ ॥

(पृष्ठीर्मे राष्ट्रम्) यद्राष्ट्रं तन्मम पृष्ठभागवत् । (उदरमꣳसौ) यौ सेनाकोशौस्तस्तत्कर्म मम हस्तमूलोदरवत् । (ग्रीवाश्च श्रोणी) यत्प्रजायाः सुखेन भूषितपुरुषार्थिकरणं तत्कर्म मम नितम्बाङ्गवत् । (ऊरू अरत्नी) यत्प्रजायाः व्यापारे गणितविद्यायां च निपुणीकरणं तन्ममोर्वरत्न्यङ्गवदस्ति । (जानुनी विशो मेऽङ्गानि सर्वतः) यत्प्रजाराजसभयोः सर्वथा मेलरक्षणं तन्मम कर्म जानुवत् । एवं पूर्वोक्तानि सर्वाणि कर्माणि ममावयववत् सन्ति । यथा स्वाङ्गेषु प्रीतिस्तत्पालने पुरुषस्य श्रद्धा भवति तथा प्रजापालने च स्वकीया बुद्धिस्सर्वैः कार्य्येति ॥ ८ ॥

भाषार्थ

(बाहू मे बलं) जो पूर्ण बल है वही मेरी भुजा, (इन्द्रियꣳ हस्तौ) जो उत्तम कर्म और पराक्रम से युक्त इन्द्रिय और मन है वे मेरे हाथों के समान, (आत्मा क्षत्रमुरो मम) जो राजधर्म, शौर्य्य, धैर्य्य और हृदय का ज्ञान है यही सब मेरे आत्मा के समान है ॥ ७ ॥ (पृष्ठीर्मे राष्ट्रं) जो उत्तम राज्य है सो मेरी पीठ के समतुल्य, (उदरमꣳसौ) जो राज्य सेना और कोश है वह मेरे हस्त का मूल और उदर के समान, तथा (ग्रीवाश्च श्रोणी) जो प्रजा को सुख से भूषित और पुरुपार्थी करना है सो मेरे कण्ठ और श्रोणी अर्थात् नाभि के अधोभागस्थान के समतुल्य, (ऊरू अरत्नी) जो प्रजा को व्यापार और गणितविद्या में निपुण करना है सो ही अरत्नी और ऊरू अङ्ग के समान, तथा (जानुनी) जो प्रजा और राजसभा का मेल रखना यह मेरी जानु के समान है, (विशो मेऽङ्गानि सर्वतः) जो इस प्रकार से प्रजापालन में उत्तम कर्म करने हैं ये सब मेरे अङ्गों के समान हैं ॥ ८ ॥

प्रति॑ क्ष॒त्रे प्रति॑ तिष्ठामि रा॒ष्ट्रे प्रत्यश्वे॑षु॒ प्रति॑ तिष्ठामि॒ गोषु॑ । प्रत्यङ्गे॑षु॒ प्रति॑ तिष्ठाम्या॒त्मन् प्रति॑ प्रा॒णेषु॒ प्रति॑ तिष्ठामि पु॒ष्टे प्रति॒ द्यावा॑पृथि॒व्योः प्रति॑ तिष्ठामि य॒ज्ञे ॥ १० ॥ त्रा॒तार॒मिन्द्र॑मवि॒तार॒मिन्द्रꣳहवे॑हवे सु॒हवꣳशूर॒मिन्द्र॑म् । ह्वया॑मि श॒क्रं पु॑रुहू॒तमिन्द्रꣳ स्व॒स्ति नो॑ म॒घवा॑ धा॒त्विन्द्रः॑ ॥ ११ ॥ य० अ० २० । मं० १० । ५० ॥

भाष्यम्

(प्रतिक्षत्रे प्रतितिष्ठामि राष्ट्रे) अहं परमेश्वरो धर्मेण प्रतीते क्षत्रे प्रतिष्ठितो

भवामि, विद्याधर्मप्रचारिते देशे च । (प्रत्यश्वेषु) प्रत्यश्वं प्रतिगां च तिष्ठामि । (प्रत्यङ्गेषु) सर्वस्य जगतोऽङ्गमङ्गं प्रतितिष्ठामि । तथा चात्मानमात्मानं प्रतितिष्ठामि । (प्रतिप्राणे०) प्राणं प्राणं प्रत्येवं पुष्टं पुष्टं पदार्थं प्रतितिष्ठामि । (प्रति द्यावापृथिव्योः) दिवं दिवं प्रति पृथिवीं पृथिवीं प्रति च तिष्ठामि । (यज्ञे) तथा यज्ञं यज्ञं प्रति तिष्ठाम्यहमेव सर्वत्र व्यापकोस्मीति । मामिष्टदेवं समाश्रित्य ये राजधर्ममनुसरन्ति तेषां सदैव विजयाभ्युदयौ भवतः । एवं राजपुरुषैश्चापि प्रजापालने सर्वत्र न्यायविज्ञानप्रकाशो रक्षणीयो यतोऽन्यायाविद्याविनाशः स्यादिति ॥ १० ॥ (त्रातारमिन्द्र०) यं विश्वस्य त्रातारं रक्षकं, परमैश्वर्य्यवन्तं, (सुहवꣳ शूरमिन्द्रं) सुहवं शोभनयुद्धकारिणमत्यन्तशूरं, जगतो राजानमनन्तबलवन्तं, (शक्रं) शक्तिमन्तं शक्तिप्रदं च, (पुरुहूतं) बहुभिः शूरैः सुसेवितं, (इन्द्रं) न्यायेन राज्यपालकं, (इन्द्रꣳहवेहवे) युद्धे युद्धे स्वविजयार्थं इन्द्रं परमात्मानं (ह्वयामि) आह्वयामि आश्रयामि । (स्वस्ति नो मघवा धात्विन्द्रः) स परमधनप्रदातेन्द्रः सर्वशक्तिमानीश्वरः सर्वेषु राज्यकार्य्येषु नोऽस्मभ्यं स्वस्ति (धातु) निरन्तरं विजयसुखं दधातु ॥ ११ ॥

भाषार्थ

(प्रतिक्षत्रे प्रतितिष्ठामि राष्ट्रे) जो मनुष्य इस प्रकार के उत्तम पुरुषों की सभा मे न्यायपूर्वक राज्य करते हैं उनके लिये परमेश्वर प्रतिज्ञा करता है कि हे मनुष्यो ! तुम लोग धर्मात्मा होके न्याय से राज्य करो, क्योंकि जो धर्मात्मा पुरुष हैं मैं उन के क्षात्रधर्म और सब राज्य में प्रकाशित रहता हूं और वे सदा मेरे समीप रहते हैं । (प्रत्यश्वेषु प्रतितिष्ठामि गोषु०) उन की सेना के अश्व और गौ आदि पशुओं में भी मैं स्वसत्ता से प्रतिष्ठित रहता हूं । (प्रत्यङ्गेषु प्रतितिष्ठाम्यात्मन्) तथा सब सेना राजा के अङ्गों और उनके आत्माओं के बीच में भी सदा प्रतिष्ठित रहता हूं । (प्रतिप्राणेषु प्रतितिष्ठामि पुष्टे) उनके प्राण और पुष्ट व्यवहारों में भी सदा व्यापक रहता हूं । (प्रतिद्यावापृथिव्योः प्रतितिष्ठामि यज्ञे जितना सूर्य्यादि प्रकाशरूप और पृथिव्यादि अप्रकाशरूप जगत् तथा जो अश्वमेधादि यज्ञ हैं इन सब के बीच में भी मैं सर्वदा व्यापक होने से प्रतिष्ठित रहता हूं । इस प्रकार से तुम लोग मुझ को सब स्थानों में परिपूर्ण देखो ॥ १० ॥ जिन लोगों की ऐसी निष्ठा है उनका राज्य सदा बढ़ता रहता है । (त्रातारमिन्द्रं) जिन मनुष्यों का

ऐसा निश्चय है कि केवल परमैश्वर्य्यवान् परमात्मा ही हमारा रक्षक है, (अविता) जो ज्ञान और आनन्द का देने वाला है, (सुहवꣳशूरमिन्द्रꣳहवेहवे) वही इन्द्र परमात्मा प्रतियुद्ध में जो उत्तम युद्ध करानेवाला, शूरवीर और हमारा राजा है, (ह्वयामि शक्रं पुरुहूतमिन्द्रं) जो अनन्त पराक्रमयुक्त ईश्वर है, जिसका सब विद्वान् वेदादि शास्त्रों से प्रतिपादन और इष्ट करते हैं, वही हमारा सब प्रकार से राजा है । (स्वस्ति नो मघवा धात्विन्द्रः) जो इन्द्र परमेश्वर मघवा अर्थात् परमविद्यारूप धनी और हमारे लिये विजय आदि सब सुखों का देनेवाला है, जिन मनुष्यों को ऐसा निश्चय है उनका पराजय कभी नहीं होता ॥ ११ ॥

इमं देवा असपत्नꣳसुवध्वं महते क्षत्राय महते ज्यैष्ठ्याय महते जानराज्यायेन्द्रस्येन्द्रियाय । इममुमुष्य पुत्रममुष्यै पुत्रमस्यै विश एष वोऽमी राजा सोमोऽस्माकं ब्राह्मणानाꣳराजा ॥ १२ ॥ य० अ० ६ । मं० ४० ॥ इन्द्रो जयाति न परा जयाता अधिराजो राजसु राजयातै । चर्कृत्य ईड्यो वन्द्यश्चोपसद्यो नमस्यो भवेह ॥ १३ ॥ त्वमिन्द्राधिराजः श्रवस्युस्त्वं भूरभिभूतिर्जनानाम् । त्वं दैवीर्विश इमा वि राजायुष्मत्क्षत्रमजरं ते अस्तु ॥ १४ ॥ अथर्व० कां० ६ । अनु० १० । सू० ९८ । मं० १ । २ ॥

भाष्यम्

(देवाः) हे देवा विद्वांसः सभासदः ! (महते क्षत्राय) अतुलराजधर्माय, (महते ज्यैष्ठ्याय) अत्यन्तज्ञानवृद्धव्यवहारस्थापनाय, (महते जानराज्याय) जनानां विदुषां मध्ये परमराज्यकरणाय, (इन्द्रस्येन्द्रियाय) सूर्य्यस्य प्रकाशवन्न्यायव्यवहारप्रकाशनायान्यायान्धकारविनाशाय, (अस्यै विशे) वर्त्तमानायै प्रजायै यथावत्सुखप्रदानाय (इमं) (असपत्नꣳसुवध्वम्) इमं प्रत्यक्षं शत्रूद्भवरहितं निष्कण्टकमुत्तमराजधर्म्मं सुवध्वमीशिध्वमैश्वर्य्यसहितं कुरुत । यूयमप्येवं जानीत (सोमोऽस्माकं ब्राह्मणानाꣳराजा) वेदविदां सभासदां मध्ये यो मनुष्यः सोम्यगुणसम्पन्नः सकलविद्यायुक्तोऽस्ति स एव सभाध्यक्षत्वेन स्वीकृतः सन् राजास्तु । हे सभासदः ! (अमी) ये प्रजास्था मनुष्याः सन्ति तान् प्रत्यप्येवमाज्ञा श्राव्या, (एष वो राजा) अस्माकं वो युष्माकं च स * सभासत् कोयं राजसभाव्यवहार

* स इति ह० लि० भूमिकायां नास्ति ।

एव राजास्तीति । एतदर्थं वयं (इममसुष्य पुत्रमसुष्यै पुत्रं) प्रख्यातनाम्नः पुरुषस्य प्रख्यातनाम्न्याः स्त्रियाश्च सन्तानमभिषिच्याध्यक्षत्वे स्वीकुर्म्म इति ॥१२॥ (इन्द्रो जयाति) स एवेन्द्रः परमेश्वरः सभाप्रबन्धो वा जयाति विजयोत्कर्षं सदा प्राप्नोतु, (न पराजयाते) स मा कदाचित्पराजयं प्राप्नोतु, (अधिराजो राजसु राजयातै) स राजाधिराजो विश्वस्येश्वरः सर्वेषु चक्रवर्त्तिराजसु माण्डलिकेषु वा स्वकीयसत्यप्रकाशन्यायेन सहास्माकं मध्ये सदा प्रसिध्यताम् । (चर्कृत्यः) यो जगदीश्वरः सर्वैर्मनुष्यैः पुनः पुनरुपासनायोग्योऽस्ति, (ईड्यः) अस्माभिः स एवैकः स्तोतुं योग्यः, (वन्द्यश्च) पूजनीयः, (उपसद्यः) समाश्रयितुं योग्यः, (नमस्यः) नमस्कर्तुं योग्योऽस्ति । (भवेह) हे महाराजेश्वर ! त्वमुत्तमप्रकारेणास्मिन् राज्ये सत्कृतो भव । भवत्सत्कारेण सह वर्त्तमाना वयमप्यस्मिन् चक्रवर्त्तिराज्ये सदा सत्कृता भवेम ॥ १३ ॥ (त्वमिन्द्राधिराजः श्रवस्युः) हे इन्द्र परमेश्वर ! त्वं सर्वस्य जगतोऽधिराजोऽसि । * "श्रव इवाचरतीति सर्वस्य श्रोता च" । स्वकृपया मामपि तादृशं कुरु । (त्वं भूरभिभूतिर्जनानाम्) हे भगवन् ! त्वं भूः सदा भवसि । यथा जनानामभिभूतिरभीष्टस्यैश्वर्य्यस्य दातासि तथा मामप्यनुग्रहेण करोतु । (त्वं दैवीर्विश इमा विराजा) हे जगदीश्वर ! यथा त्वं दिव्यगुणसम्पन्ना, विविधोत्तमराजपालिताः, प्रत्यक्षविषयाः प्रजाः सत्यन्यायेन पालयसि तथा मामपि कुरु । († युष्मत्क्षत्रमजरं ते अस्तु) हे महाराजाधिराजेश्वर ! तव यदिदं सनातनं राजधर्मयुक्तं नाशरहितं विश्वरूपं राष्ट्रमस्ति तदिदं भवद्दत्तमस्माकमस्त्विति याचितः सन्नाशीर्ददातीदं मद्रचितं भूगोलाख्यं राष्ट्रं युष्मदधीनमस्तु ॥ १४ ॥

भाषार्थ

(इमं देवा असपत्न०) अब ईश्वर सब मनुष्यों को राज्यव्यवस्था के विषय में आज्ञा देता है कि हे विद्वान् लोगो ! तुम इस राजधर्म को यथावत् जानकर अपने राज्य का ऐसा प्रबन्ध करो कि जिससे तुम्हारे देश पर कोई शत्रु न आ जाय । (महते क्षत्राय०) हे शूरवीर लोगो ! अपने क्षत्रियधर्म, चक्रवर्त्ति राज्य, श्रेष्ठकीर्त्ति, सर्वोत्तम राज्यप्रबन्ध के अर्थ, (महते जानराज्याय) सब प्रजा को विद्वान् करके ठीक २ राज्यव्यवस्था में चलाने के लिये, तथा (इन्द्रस्येन्द्रियाय) बड़े ऐश्वर्य सत्य

* " " एतच्चिह्न मध्यगतः पाठो नास्ति ह० लि० भूमिकायाम् ।

† आयुष्मदिति पाठो ह० लि० भूमिकायाम् ।

न्याय के प्रकाश करने के अर्थ (सुबध्वं) अच्छे २ राज्यसम्बन्धी प्रबन्ध करो कि जिन से सब मनुष्यों को उत्तम सुख बढ़ता जाय ॥ १२ ॥ (इन्द्रो जयाति) हे बन्धु लोगो ! जो परमात्मा अपने लोगों का विजय कराने वाला, (न पराजयाता) जो हम को दूसरों से कभी हारने नहीं देता, (अधिराजो) जो महाराजाधिराज (राजसु राजयातै) सब राजाओं के बीच में प्रकाशमान होकर हम को भी भूगोल में प्रकाशमान करने वाला है, (चर्कृत्यः) जो आनन्दस्वरूप परमात्मा सब जगत् को सुखों से पूर्ण करने हारा, तथा (ईड्यो वन्द्यश्च) सब मनुष्यों को स्तुति और वंदना करने के योग्य, (उपसद्यो नमस्यः) सब को शरण लेने और नमस्कार करने के योग्य है, (भवेह) सो ही जगदीश्वर हमारा विजय कराने वाला, रक्षक, न्यायाधीश और राजा है । इसलिये हमारी यह प्रार्थना है कि हे परमेश्वर ! आप कृपा करके हम सबों के राजा हूजिये और हम लोग आप के पुत्र और भृत्य के समान राज्याधिकारी हो कर आप के राज्य को सत्यन्याय से सुशोभित करें ॥ १३ ॥ (त्वमिन्द्राधिराजः श्रवस्युः) हे परमेश्वर ! आप ही सब संसार के अधिराज और आप्तों के समान सत्यन्याय के उपदेशक, (त्वं भूरभिभूतिर्जनानाम्) आप ही सदा नित्यस्वरूप और सज्जन मनुष्यों को राज्य ऐश्वर्य के देने वाले, (त्वं दैवीर्विश इमा विराजा) आप ही इन विविध प्रजाओं को सुधारने और दुष्ट राजाओं का युद्ध में पराजय कराने वाले हैं । (युस्मत्क्षत्रमजरं ते अस्तु) हे जगदीश्वर ! आप का राज्य नित्य तरुण बना रहे कि जिससे सब संसार को विविध प्रकार का सुख मिले । इस प्रकार जो मनुष्य अपने सत्य प्रेम और पुरुषार्थ से ईश्वर की भक्ति और उस की आज्ञा पालन करते हैं उन को वह आशीर्वाद देता है कि मेरे रचे हुए भूगोल का राज्य तुम्हारे आधीन हो ॥ १४ ॥

स्थिरा वः सन्त्वायुधा पराणुदे वीळू उत प्रतिष्कभे । युष्माकमस्तु तविषी पनीयसी मा मर्त्यस्य मायिनः ॥ १५ ॥ ऋ० अ० १ । अ० ३ । व० १८ । मं० २ ॥ **तं सभा च समितिश्च सेना च ॥ १६ ॥** अथर्व० कां० १५ । अनु० २ । सू० ९ । मं० २ ॥ **इमं वीरमनु हर्षध्वमुग्रमिन्द्रं सखायो अनु सं रभध्वम् । ग्रामजितं गोजितं वज्रबाहुं जयन्तमज्म प्रमृणन्तमोजसा ॥ १७ ॥** अथर्व० कां० ६ । अनु० १० । सू० ९७ । मं० ३ ॥ **सभ्य सभां मे पाहि ये च सभ्याः सभासदः ।**

त्वयेद्धाः पुरुहूत विश्वमायुर्व्यश्नवम् ॥ १८ ॥ अथर्व कां० १६ । अनु० ७ । सू० ५५ । मं० ६ ॥

भाष्यम्

(स्थिरा वः०) अस्यार्थः प्रार्थनाविषय उक्तः ॥ १५ ॥ (तं सभा च) राजसभा प्रजा च तं पूर्वोक्तं सर्वराजाधिराजं परमेश्वरं तथा सभाध्यक्षमभिषिच्य राजानं मन्येत । (समितिश्च) तमनुश्रित्यैव समितिर्युद्धमाचरणीयम् । (सेना च) तथा वीरपुरुषाणां या सेना सापि परमेश्वरं, ससभाध्यक्षां सभां, स्वसेनानीं चानुश्रित्य युद्धं कुर्य्यात् ॥ १६ ॥ ईश्वरः सर्वान्मनुष्यान्प्रत्युपदिशति (सखायः) हे सखायः ! (इमं वीरमुग्रमिन्द्रं) शत्रूणां हन्तारं, युद्धकुशलं, निर्भयं, तेजस्विनं प्रति राजपुरुषं तथेन्द्रं परमैश्वर्य्यवन्तं परमेश्वरं (अनुहर्षध्वं) सर्वे यूयमनुमोदयध्वमेवं कृत्वैव दुष्टशत्रूणां पराजयार्थं (अनुसंरभध्वं) युद्धारम्भं कुरुत । कथम्भूतं तं ? (ग्रामजितं) येन पूर्वं शत्रूणां समूहा जिताः, (गोजितं) येनेन्द्रियाणि पृथिव्यादिकं च जितं, (वज्रबाहुं) वज्रः प्राणो बलं बाहुर्यस्य, (जयन्तं) जयं प्राप्नुवन्तं, (प्रमृणन्तमोजसा) ओजसा बलेन शत्रून् प्रकृष्टतया हिंसन्तं (अज्म) वयं तमाश्रित्य सदा विजयं प्राप्नुमः ॥ १७ ॥ (सभ्य सभां मे पाहि) हे सभायां साधो परमेश्वर ! मे मम सभां यथावत् पालय । म इत्यस्मच्छब्दनिर्देशात्सर्वान्मनुष्यानिदं वाक्यं गृह्णातीति । (ये च सभ्याः सभासदः) ये सभाकर्मसु साधवश्चतुराः सभायां सीदन्ति तेऽस्माकं पूर्वोक्तां त्रिविधां सभां पान्तु यथावद्रक्षन्तु (त्वयेद्धाः पुरुहूत) हे बहुभिः पूजित परमात्मन् ! त्वया सह ये सभाध्यक्षाः सभासदः, इद्धाः इतं राजधर्मज्ञानं गच्छन्ति, त एव सुखं प्राप्नुवन्ति । (विश्वमायुर्व्यश्नवम्) एवं सभापालितोऽहं सर्वे जनः शतवार्षिकं सुखयुक्तमायुः प्राप्नुयाम् ॥ १८ ॥

भाषार्थ

(स्थिरा वः सन्त्वायुधा०) इस मन्त्र का अर्थ प्रार्थनादि विषय में कर दिया है ॥ १५ ॥ (तं सभा च) प्रजा तथा सब सभासद् सब राजाओं के राजा परमेश्वर को जान के सब सभाओं में सभाध्यक्ष का अभिषेक करें । (समितिश्च) सब मनुष्यों को उचित है कि परमेश्वर और सर्वोपकारक धर्म का ही आश्रय करके युद्ध करें । तथा (सेना च) जो सेना, सेनापति और सभाध्यक्ष हैं वे सब सभा के आश्रय से विचारपूर्वक उत्तम सेना को बना के सदैव प्रजापालन और युद्ध करें ॥ १६ ॥ ईश्वर

सब मनुष्यों को उपदेश करता है कि (सखायः) हे बन्धुलोगो ! (इमं वीरं) हे शूरवीर लोगो ! न्याय और दृढ़भक्ति से अनन्त बलवान् परमेश्वर को इष्ट करके (अनुहर्षध्वं) शूरवीर लोगों को सदा आनन्द में रक्खो । (उग्रमिन्द्रं) तुम लोग अत्यन्त उग्र परमेश्वर के सहाय से एक संमति होकर (अनुसंरभध्वं) दुष्टों को युद्ध में जीतने का उपाय रचा करो । (ग्रामजितं) जिसने सब भूगोल तथा (गोजितं) सब के मन और इन्द्रियों को जीत रक्खा है, (वज्रबाहुं) प्राण जिसके बाहु और (जयन्तं) जो हम सब को जिताने वाला है (अज्म) उसी को इष्ट जान के हम लोग अपना राजा मानें । (प्रमृणन्तमोजसा) जो अपने अनन्त पराक्रम से दुष्टों का पराजय करके हम को सुख देता है ।। १७ ।। (सभ्य सभां मे पाहि) हे सभाके योग्य परमेश्वर ! आप हम लोगों की राजसभा की रक्षा कीजिये । (ये च सभ्याः सभासदः) हम लोग जो सभा के सभासद् हैं सो आप की कृपा से सभ्यतायुक्त होकर अच्छी प्रकार से सत्य न्याय की रक्षा करें । (त्वयेद्गाः पुरुहूत०) हे सब के उपास्यदेव ! (विश्वमायुर्व्यश्नवम्) हम लोग आप ही के सहाय से आप की आज्ञा का पालन करते रहैं, जिससे संपूर्ण आयु को सुख से भोगें ॥ १८ ॥

जनिष्ठा उग्रः सहसे तुरायेति सूक्तमुग्रवत्सहस्वत्तत्क्षत्रस्य रूपं, मन्द्र ओजिष्ठ इत्योजस्वत्तत्क्षत्रस्य रूपम् ॥ १ ॥ बृहत्पृष्ठं भवति, क्षत्रं वै बृहत्क्षत्रेणैव तत्क्षत्रं समर्धयत्यथो क्षत्रं वै बृहदात्मा यजमानस्य निष्कैवल्यं तद्यद्बृहत्पृष्ठं भवति ॥ २ ॥ ब्रह्म वै रथन्तरं क्षत्रं बृहद् ब्रह्मणि खलु वै क्षत्रं प्रतिष्ठितं क्षत्रे ब्रह्म ॥ ३ ॥ ओजो वा इन्द्रियं वीर्यं पञ्चदश, ओजः क्षत्रं वीर्यं राजन्यस्तदेनमोजसा क्षत्रेण वीर्येण समर्द्धयति । तद्भारद्वाजं भवति भारद्वाजं वै बृहत् ॥ ४ ॥ ऐ० पं० ८ । अ० १ । कं० २ । ३ ॥ तानहमनु राज्याय साम्राज्याय भौज्याय स्वाराज्याय वैराज्याय पारमेष्ठ्याय राज्याय माहाराज्यायाधिपत्याय स्वावश्यायातिष्ठायां रोहामीति ॥ ५ ॥ नमो ब्रह्मणे नमो ब्रह्मणे नमो ब्रह्मण इति त्रिष्कृत्वो ब्रह्मणे नमस्करोति । ब्रह्मण एव तत्क्षत्रं वशमेति तद्यत्र वै ब्रह्मणः क्षत्रं वशमेति तद्राष्ट्रं समृद्धं तद्वीरवदाहास्मिन् वीरो जायते ॥ ६ ॥ ऐ० पञ्चि० ८ । अ० २ । कं० ६ । ९ ॥

भाष्यम्

इयं राजधर्मव्याख्या वेदरीत्या संक्षेपेण लिखिताऽतोऽग्र ऐतरेयशतपथब्राह्मणादिग्रन्थरीत्या संक्षेपतो लिख्यते । तद्यथा–(जनिष्ठा उग्रः०) राजसभायां, जनिष्ठा अतिशयेन जना विद्वांसो धर्मात्मनः, श्रेष्ठप्रकृतीन् मनुष्यान् प्रति, सदा सुखदास्सौम्या भवेयुः । तथा दुष्टान् प्रत्युग्रो व्यवहारो धार्य्य इति ॥ कुतो, यद्राजकर्म्मास्ति तद् द्विविधं भवत्येकं सहस्वद् द्वितीयमुग्रवदर्थात्क्वचिद्देशकालवस्त्वनुसारेण सहनं कर्त्तव्यम्, क्वचित्तद्विपर्य्यये राजपुरुषैर्दुष्टेषूग्रो दण्डो निपातनीयश्चैतत्क्षत्रस्य धर्मस्य स्वरूपं भवति । तथा (मन्द्र ओजिष्ठः०) उत्तमकर्मकारिभ्य आनन्दकरो दुष्टेभ्यो दुःखप्रदश्चात्युत्तमवीरपुरुषसेनादिपदार्थसामग्र्या सहितो यो राजधर्मोऽस्ति स च क्षत्रस्य स्वरूपमस्ति ॥ १ ॥ (बृहत्पृष्ठं०) यत्क्षत्रं कर्म तत्सर्वेभ्यः कृत्येभ्यो बृहन्महदस्ति, तथा पृष्ठमर्थान्निर्बलानां रक्षकं सत् पुनरुत्तमसुखकारकं भवति । एतेनोक्तेन च क्षत्रराजकर्म्मणा मनुष्यो राजकर्म्म वर्द्धयति, नातोऽन्यथा क्षत्रधर्मस्य वृद्धिर्भवितुमर्हति । तस्मात्क्षत्रं सर्वस्मात्कर्मणो बृहद्यजमानस्य प्रजास्थस्य जनस्य राजपुरुषस्य वात्मात्मवदानन्दप्रदं भवति । तथा सर्वस्य संसारस्य निष्कैवल्यं निरन्तरं केवलं सुखं सम्पादयितुं यतः समर्थं भवति तस्मात्तत्क्षत्रकर्म सर्वेभ्यो महत्तरं भवतीति ॥ २ ॥ (ब्रह्म वै रथन्तरं०) ब्रह्मशब्देन सर्वविद्यायुक्तो ब्राह्मणवर्णो गृह्यते, तस्मिन् खलु क्षत्रधर्मः प्रतिष्ठितो भवति, नैव कदाचित्सत्यविद्यया विना क्षत्रधर्मस्य वृद्धिरक्षणे भवतः । तथा (क्षत्रे ब्रह्म) राजन्ये ब्रह्माऽर्थात् सत्यविद्या प्रतिष्ठिता भवति । नैवास्माद्विना कदाचिद्विद्याया वृद्धिरक्षणे सम्भवतस्तस्माद्विद्याराजव्यवहारौ मिलित्वैव राष्ट्रसुखोन्नतिं कर्तुं शक्नुत इति ॥ ३ ॥ (ओजो वा इन्द्रियं०) राजपुरुषैर्बलपराक्रमवन्तीन्द्रियाणि सदैव रक्षणीयान्यर्थाज्जितेन्द्रियतयैव सदैव वर्त्तितव्यम् । कुतः, ओज एव क्षत्रं, वीर्य्यमेव राजन्य इत्युक्तत्वात् । तत्तस्मादोजसा क्षत्रेण वीर्य्येण राजन्येनैनं राजधर्मं मनुष्यः समर्द्धयति, सर्वसुखैरेधमानं करोतीदमेव भारद्वाजं भरणीयं, बृहदर्थान्महत्कर्मास्तीति ॥ ४ ॥ (तानहमनुराज्याय०) सर्वे मनुष्या एवमिच्छां कृत्वा पुरुषार्थं कुर्युः । परमेश्वरानुग्रहेणाहमनुराज्याय सभाध्यक्षत्वप्राप्तये तथा माण्डलिकानां राज्ञामुपरि राजसत्ताप्राप्तये, (साम्राज्याय) सार्वभौमराज्यकरणाय, (भौज्याय) धर्मन्यायेन राज्यपालनायोत्तमभोगाय च, (स्वाराज्याय) स्वस्मै राज्यप्राप्तये, (वैराज्याय) विविधानां राज्ञां मध्ये महत्त्वेन प्रकाशाय, (पारमेष्ठ्याय)

परमराज्यस्थितये, (माहाराज्याय) महाराज्यसुखभोगाय, तथा (आधिपत्याय) आधिपतित्वकरणाय, (स्वावश्याय) स्वार्थप्रजावशत्वकरणाय च, (अतिष्ठायां) अत्युत्तमा विद्वांसस्तिष्ठन्ति यस्यां सा अतिष्ठा सभा, तस्यां सर्वैर्गुणैः सुखैश्च रोहामि वर्द्धमानो भवामीति ॥ ५ ॥ (नमो ब्रह्मणे०) परमेश्वराय त्रिवारं चतुर्वारं वा नमस्कृत्य राजकर्मारम्भं कुर्य्यात् । यत् क्षत्रं ब्रह्मणः परमेश्वरस्य वशमेति तद्राष्ट्रं समृद्धं सम्यक् ऋद्धियुक्तं वीरवद् भवति । तस्मिन्नेव राष्ट्रे वीरपुरुषो जायते नान्यत्रेत्याह परमेश्वरः ॥ ६ ॥

भाषार्थ

इस प्रकार वेदरीति से राजा और प्रजा के धर्म संक्षेप से कह चुके । इसके आगे वेद की सनातन व्याख्या जो ऐतरेय और शतपथब्राह्मणादि ग्रन्थ हैं उनकी साक्षी भी यहां लिखते हैं । (जनिष्ठा उग्रः) राजाओं की सेना और सभा में जो पुरुष हों, वे सब दुष्टों पर तेजधारी, श्रेष्ठों पर शान्तरूप, सुख दुःख के सहन करने वाले और धन के लिये अत्यन्त पुरुषार्थी हों । क्योंकि दुष्टों पर क्रुद्धस्वभाव और श्रेष्ठों पर सहनशील होना यही राज्य का स्वरूप है ॥ १ ॥ (मन्द्र ओजिष्ठ०) जो आनन्दित और पराक्रमयुक्त होना है वही राज्य का स्वरूप है । क्योंकि राज्यव्यवहार सब से बड़ा है । इस में शूरवीर आदि गुणयुक्त पुरुषों की सभा और सेना रख कर अच्छे प्रकार राज्य को बढ़ाना चाहिये ॥ २ ॥ (ब्रह्म वै रथन्तरं०) ब्रह्म अर्थात् परमेश्वर और वेदविद्या से युक्त जो पूर्ण विद्वान् ब्राह्मण है वही राज्य के प्रबन्धों में सुखप्राप्ति का हेतु होता है । इसलिये अच्छे राज्य के होने से ही सत्यविद्या प्रकाश को प्राप्त होती है । उत्तम विद्या और न्याययुक्त राज्य का नाम ओज है । जिसको दण्ड के भय से उल्लंघन वा अन्यथा कोई नहीं कर सकता । क्योंकि ओज अर्थात् बल का नाम क्षत्र और पराक्रम का नाम राजन्य है । ये दोनों जब परस्पर मिलते हैं तभी संसार की उन्नति होती है । इसके होने और परमेश्वर की कृपा से मनुष्य के राजकर्म, चक्रवर्त्तिराज्य, भोग का राज्य, अपना राज्य, विविध राज्य, परमेष्ठि राज्य, प्रकाशरूप राज्य, महाराज्य, राजों का अधिपतिरूप राज्य और अपने वश का राज्य इत्यादि उत्तम २ सुख बढ़ते हैं । इसलिये उस परमात्मा को मेरा वारंवार नमस्कार है कि जिसके अनुग्रह से हम लोग इन राज्यों के अधिकारी होते हैं ॥ ६ ॥

स प्रजापतिका, अयं वै देवानामोजिष्ठो बलिष्ठः सहिष्ठः सत्तमः पारयिष्णुतम इममेवाभिषिञ्चामहा इति तथेति तद्वै तदिन्द्रमेव ॥७॥

सम्राजं साम्राज्यं भोजं भोजपितरं स्वराजं स्वाराज्यं विराजं वैराज्यं राजानं राजपितरं परमेष्ठिनं पारमेष्ठ्यं क्षत्रमजनि क्षत्रियोऽजनि विश्वस्य भूतस्याधिपतिरजनि विशामत्ताजनि पुरां भेत्ता जन्यसुराणां हन्ताजनि ब्रह्मणो गोप्ताजनि धर्मस्य गोप्ताजनीति ॥ ऐतरे० पं० ८ । कं० १२ ॥ स परमेष्ठी प्राजापत्योऽभवत् ॥ ८ ॥ ऐत० पं० ८ । अ० ३ । कं० १४ ॥ स एतेनैन्द्रेण महाभिषेकेणाभिषिक्तः क्षत्रियः सर्वा जितीर्जयति सर्वान् लोकान् विन्दति सर्वेषां राज्ञां श्रैष्ठ्यप्रतिष्ठां परमतां गच्छति साम्राज्यं भौज्यं स्वाराज्यं वैराज्यं पारमेष्ठ्यं राज्यं माहाराज्यमाधिपत्यं जित्वाऽस्मिंल्लोके स्वयंभूः स्वराडमृतोऽमुष्मिन्स्वर्गे लोके सर्वान् कामानाप्त्वामृतः सम्भवति यमेतेनैन्द्रेण महाभिषेकेण क्षत्रियं शापयित्वाऽभिषिञ्चति ॥ ६ ॥ ऐत० पं० ८ । अ० ४ । कं० १६ ॥

भाष्यम्

(स प्रजापतिका०) सर्वे सभासदः प्रजास्थमनुष्याः स्वामिनेष्टेन पूज्यतमेन परमेश्वरेणैव सह वर्त्तमाना भवेयुः । सर्वे मिलित्वैवं विचारं कुर्युर्यतो न कदाचित्सुखहानिपराजयौ स्याताम् । यो देवानां विदुषां मध्ये (ओजिष्ठः) पराक्रमवत्तमः, (बलिष्ठः) सर्वोत्कृष्टबलसहितः, (सहिष्ठः) अतिशयेन सहनशीलः, (सत्तमः) सर्वैर्गुणैरत्यन्तश्रेष्ठः, (पारयिष्णुतमः) सर्वेभ्यो युद्धादिदुःखेभ्योऽतिशयेन सर्वांस्तारयितृतमो विजयकारकतमोऽस्माकं मध्ये श्रेष्ठतमोस्तीति । वयं निश्चित्य तमेव पुरुषमभिषिञ्चाम इतीच्छेयुः । तथैव खल्वस्त्विति सर्वे प्रतिजानीयुरेवं भूतस्योत्तमपुरुषस्याभिषेककरणं, सर्वैश्वर्य्यप्रापकत्त्वादिन्द्रमित्याहुः ॥ ७ ॥ (सम्राजं०) एवम्भूतं सार्वभौमराजानं, (साम्राज्यं) सार्वभौम्यराज्यं, (भोजं) उत्तमभोगसाधकं, (भोजपितरं) उत्तमभोगानां रक्षकं (स्वराजं) राजकर्मसु प्रकाशमानं सद्विद्यादिगुणैस्स्वहृदये देदीप्यमानं, (स्वाराज्यं) स्वकीयराज्यपालनं, (विराजं) विविधानां राज्ञां प्रकाशकं, (वैराज्यं) विविधराज्यप्राप्तिकरं, (राजानं) श्रेष्ठैश्वर्य्येण प्रकाशमानं, (राजपितरं) राज्ञां रक्षकं, (परमेष्ठिनं) परमोत्कृष्टे राज्ये स्थापयितुं योग्यं, (पारमेष्ठ्यं) परमेष्ठिसम्पादितं सर्वोत्कृष्टं पुरुषं वयमभिषिञ्चामहे । एवमभिषिक्तस्य पुरुषस्य सुखयुक्तं क्षत्रमजनि प्रादुर्भवतीति ।

अजनीति छन्दसि लुङ्लङ्लिट इति वर्त्तमानकाले लुङ् । (क्षत्रियोजनि) तथा क्षत्रियो वीरपुरुषः (विश्व०) सर्वस्य प्राणिमात्रस्याधिपतिः सभाध्यक्षः (विशामत्ता०) दुष्टप्रजानामत्ता विनाशकः, (पुरां भे०) शत्रुनगराणां विनाशकः, (असुराणां हन्ता) दुष्टानां हन्ता हननकर्त्ता, (ब्रह्मणो०) वेदस्य रक्षकः, (धर्मस्य गो०) धर्मस्य च रक्षकोजनि प्रादुर्भवतीति । (स परमेष्ठी प्रा०) स राजधर्मः सभाध्यक्षादिमनुष्यैः (प्राजापत्यः) अर्थात् परमेश्वर इष्टः करणीयः । न तद्भिन्नोऽर्थः केनचिन्मनुष्येणेष्टः कर्तुं योग्योस्त्यतः सर्वे मनुष्याः परमेश्वरपूजका भवेयुः ॥ ८ ॥ यो मनुष्यो राज्यं कर्तुमिच्छेत्स (एतेनैन्द्रेण०) पूर्वोक्तेन सर्वैश्वर्य्यप्राप्तिनिमित्तेन (महाभिषेकेण०) अभिषिक्तः स्वीकृतः (क्षत्रियः) क्षत्रधर्मवान् (सर्व०) सर्वेषु युद्धेषु जयति, सर्वत्र विजयं तथा सर्वानुत्तमांल्लोकांश्च विन्दति प्राप्नोति, सर्वेषां राज्ञां मध्ये श्रैष्ठ्यं सर्वोत्तमत्वं, पूर्वोक्तां प्रतिष्ठां, या परेषु शत्रुषु विजयेन हर्षनिमित्ता तथा परेषां शत्रूणां दीनत्वनिमित्ता सा, परमता सभा तां वा गच्छति प्राप्नोति, तया सभया पूर्वोक्तं साम्राज्यं भौज्यं स्वाराज्यं वैराज्यं पारमेष्ठ्यं महाराज्यमाधिपत्यं राज्यं च जित्वाऽस्मिन् लोके चक्रवर्त्तिसार्वभौमो महाराजाधिराजो भवति, तथा शरीरं त्यक्त्वाऽस्मिन्स्वर्गे सुखस्वरूपे लोके परब्रह्मणि स्वयम्भूः स्वाधीनः (स्वराट्) स्वप्रकाशः (अमृतः) प्राप्तमोक्षसुखः सन्सर्वान्कामानाप्नोति, (आप्त्वामृतः) पूर्णकामोऽजरामरः सम्भवति, (यमेतेनैन्द्रेण) एतेनोक्तेन सर्वैश्वर्य्येण (शापयित्वा) प्रतिज्ञां कारयित्वा यं सकलगुणोत्कृष्टं क्षत्रियं (महाभिषे०) अभिषिञ्चन्ति सभासदः सभायां स्वीकुर्वन्ति तस्य राष्ट्रे कदाचिदनिष्टं न प्रसज्यत इति विज्ञेयम् ॥ ६ ॥

भाषार्थ

जो क्षत्र अर्थात् राज्य परमेश्वर आधीन और विद्वानों के प्रबन्ध में होता है वह सब सुखकारक पदार्थ और वीर पुरुषों से अत्यन्त प्रकाशित होता है । (स प्रजापतिका०) और वे विद्वान् एक अद्वितीय परमेश्वर के ही उपासक होते हैं । क्योंकि वही एक परमात्मा सब देवों के बीच में अनन्त विद्यायुक्त और अपार बलवान् है । तथा अत्यन्त सहनस्वभाव और सब से उत्तम है । वही हम को सब दुःखों के पार उतार के सब सुखों को प्राप्त कराने वाला है । उसी परमात्मा को हम लोग अपने और सभा में अभिषेक करके अपना न्यायकारी राजा सदा के लिये मानते हैं । तथा

जिसका नाम इन्द्र अर्थात् परमैश्वर्य्ययुक्त है वही हमारा सम्राट् अर्थात् चक्रवर्त्ती राजा और वही हम को भी चक्रवर्त्ती राज्य देनेवाला है। जो पिता के सदृश सब प्रकार से हमारा पालन करने वाला, स्वराट् अर्थात् स्वयं प्रकाशस्वरूप और प्रकाशस्वरूप राज्य का देनेवाला है, तथा जो विराट् अर्थात् सब का प्रकाशक, विविध राज्य का देनेवाला है, उसी को हम राजा और सब राजाओं का पिता मानते हैं। क्योंकि वही परमेष्ठी सर्वोत्तम राज्य का भी देनेवाला है। उसी की कृपा से मैंने राज्य को प्रसिद्ध किया अर्थात् मैं क्षत्रिय और सब प्राणियों का अधिपति हुआ। तथा प्रजाओं का संग्रह, दुष्टों के नगरों का भेदन, असुर अर्थात् चोर डाकुओं का ताड़न, ब्रह्म अर्थात् वेदविद्या का पालन और धर्म की रक्षा करनेवाला हुआ हूं। जो क्षत्रिय इस प्रकार के गुण और सत्य कर्मों से अभिषिक्त अर्थात् युक्त होता है वह सब युद्धों को जीत लेता है। तथा सब उत्तम सुख और लोकों का अधिकारी बन कर सब राजाओं के बीच में अत्यन्त उत्तमता को प्राप्त होता है। जिससे इस लोक में चक्रवर्त्ती राज्य और लक्ष्मी को भोग के मरणानन्तर परमेश्वर के समीप सब सुखों को भोगता हैं। क्योंकि ऐन्द्र अर्थात् महाऐश्वर्ययुक्त अभिषेक से क्षत्रिय को प्रतिज्ञापूर्वक राज्याधिकार मिलता है। इसलिये जिस देश में इस प्रकार का राज्यप्रबन्ध किया जाता है वह देश अत्यन्त सुख को प्राप्त होता है ॥ ९ ॥

क्षत्रं वै स्विष्टकृत्। क्षत्रं वै साम। साम्राज्यं वै साम॥ श० कां० १२। अ० ८। ब्रा० ३। कण्डि० १९। २३॥ ब्रह्म वै ब्राह्मणः क्षत्रꣳराजन्यस्तदस्य ब्रह्मणा च क्षत्रेण चोभयतः श्रीः परिगृहीता भवति। युद्धं वै राजन्यस्य वीर्य्यम् ॥ श० कां० १३। अ० १। ब्रा० ५। कण्डि० ३। ६॥ राष्ट्रं वा अश्वमेधः॥ श० कां० १३। अ० १। ब्रा० ६। कं० ३। राजन्य एव शौर्य्यं महिमानं दधाति तस्मात्पुरा राजन्यः शूर इषव्योऽतिव्याधी महारथो जज्ञे॥ श० कां० १३। अ० १। ब्रा० ९। कण्डि० २॥

भाष्यम्

(क्षत्रं वै०) क्षत्रमर्थाद्राजसभाप्रबन्धेन यद्यथावत्प्रजापालनं क्रियते तदेव स्विष्टकृदर्थादिष्टसुखकारि, (क्षत्रं वै साम०) यद्वै दुष्टकर्मणामन्तकारि तथा सर्वस्याः प्रजायाः सान्त्वप्रयोगकर्त्तृ च भवति, (साम्राज्यं वै०) तदेव श्रेष्ठं राज्यं

वर्णयन्ति । (ब्रह्म वै०) ब्रह्मार्थाद्वेदं परमेश्वरं च वेत्ति स एव ब्राह्मणो भवितुमर्हति । (क्षत्रं४) यो जितेन्द्रियो विद्वान् शौर्य्यादिगुणयुक्तो महावीरपुरुषः क्षत्रधर्मं स्वीकरोति स राजन्यो भवितुमर्हति । (तदस्य ब्रह्मणा०) तादृशैर्ब्राह्मणैः राजन्यैश्च सहास्य राष्ट्रस्य सकाशादुभयतः श्री राज्यलक्ष्मीः परितः सर्वतो गृहीता भवति, नैवं राजधर्मानुष्ठानेनास्याः श्रियः कदाचिद्ध्रासान्यथात्वे भवतः । (युद्धं वै०) अत्रेदं बोध्यं युद्धकरणमेव राजन्यस्य वीर्य्यं बलं भवति, नानेन विना महाधनसुखयोः कदाचित्प्राप्तिर्भवति । कुतः । निघं० अ० २ । खं० १७ । संग्रामस्यैव महाधनसंज्ञत्वात् । महान्ति धनानि प्राप्तानि भवन्ति यस्मिन्स महाधनः संग्रामो, नास्माद्विना कदाचिन् महती प्रतिष्ठा महाधनं च प्राप्नुतः । (राष्ट्रं वा अश्वमेधः) राष्ट्रपालनमेव क्षत्रियाणामश्वमेधाख्यो यज्ञो भवति, नाश्वं हत्वा तदङ्गानां होमकरणं चेति । (राजन्य एव०) पुरा पूर्वोक्तैर्गुणैर्युक्तो राजन्यो यदा शौर्य्यं महिमानं दधाति तदा सार्वभौमं राज्यं कर्तुं समर्थो भवति । तस्मात्कारणाद्राजन्यः शूरो, युद्धोत्सुको, निर्भयः, (इषव्यः) शस्त्रास्त्रप्रक्षेपणे कुशलः, (अतिव्याधी) अत्यन्ता व्याधाः शत्रूणां हिंसका योद्धारो यस्य, (महारथः) महान्तो भूजलान्तरिक्षगमनाय रथा यस्येति । यस्मिन् राष्ट्रे ईदृशो राजन्यो जज्ञे जातोस्ति नैव कदाचित्तस्मिन्भयदुःखे सम्भवतः ॥ १३ ॥

भाषार्थ

(क्षत्रं वै०) राजसभाप्रबन्ध से जो यथावत् प्रजा का पालन किया जाता है वही स्विष्टकृत् अर्थात् अच्छी प्रकार चाहे हुए सुख का करने वाला होता है। (क्षत्रं वै सा०) जो राजकर्म्म दुष्टों का नाश और श्रेष्ठों का पालन करने वाला है वही साम्राज्यकारी अर्थात् राजसुखकारक होता है। (ब्रह्म वै०) जो मनुष्य ब्रह्म अर्थात् परमेश्वर और वेद का जानने वाला है वही ब्राह्मण होने योग्य है । (क्षत्रं०) जो इन्द्रियों को जीतने वाला, पण्डित, शूरतादि गुणयुक्त, श्रेष्ठ, वीरपुरुष क्षत्रधर्म को स्वीकार करता है सो क्षत्रिय होने के योग्य है। (तदस्य ब्रह्मणा०) ऐसे ब्राह्मण और क्षत्रियों के साथ न्यायपालक राजा को अनेक प्रकार से लक्ष्मी प्राप्त होती और उसके ख़जाने की हानि कभी नहीं होती । (युद्धं वै०) यहां इस बात को जानना चाहिये कि जो राजा को युद्ध करना है वही उसका बल होता है। उसके विना बहुत धन और सुख की प्राप्ति कभी नहीं होती । क्योंकि निघण्टु में संग्राम ही का नाम महाधन है । सो उसको महाधन इसलिये कहते हैं कि उससे बड़े २

उत्तम पदार्थ प्राप्त होते हैं। क्योंकि विना संग्राम के अत्यन्त प्रतिष्ठा और धन कभी नहीं प्राप्त होता और जो न्याय से राज्य का पालन करना है वही क्षत्रियों का अश्वमेध कहाता है। किन्तु घोड़े को मार के उसके अङ्गों का होम करना यह अश्वमेध नहीं है। (राजन्य एव०) पूर्वोक्त राजा जब शूरतारूप कीर्त्ति को धारण करता है तभी सम्पूर्ण पृथिवी के राज्य करने को समर्थ होता है। इसलिये जिस देश में युद्ध को अत्यन्त चाहने वाला, निर्भय, शस्त्र अस्त्र चलाने में अतिचतुर और जिसका रथ पृथिवी, समुद्र और अन्तरिक्ष में जाने आने वाला हो ऐसा राजा होता है वहां भय और दुःख नहीं होते।

श्रीर्वै राष्ट्रम् ॥ श० कां० १३ । अ० २ । ब्रा० ६ । कं० २ ॥ श्रीर्वै राष्ट्रस्य भारः ॥ श० १३ । २ । ६ । ३ ॥ श्रीर्वै राष्ट्रस्य मध्यम् ॥ श० १३ । २ । ६ । ४ ॥ क्षेमो वै राष्ट्रस्य शंतिम् ॥ श० १३ । २ । ६ । ५ ॥ विड्वै गभो राष्ट्रं पसो राष्ट्रमेव विश्याहन्ति तस्माद्राष्ट्री विशं घातुकः ॥ श० १३ । २ । ६ । ६ ॥ विशमेव राष्ट्रयाद्यां करोति तस्माद्राष्ट्री विशमत्ति न पुष्टं पशु मन्यत इति ॥ शत० कां० १३ । अ० २ । ब्रा० ६ । कं० ८ ॥

भाष्यम्

(श्रीर्वै राष्ट्रम्) या विद्याद्युत्तमगुणरूपा नीतिः सैव राष्ट्रं भवति। (श्रीर्वै राष्ट्रस्य भारः) सैव राज्यश्री राष्ट्रस्य सम्भारो भवति। (श्रीर्वै राष्ट्रस्य मध्यम्) राष्ट्रस्य मध्यभागोपि श्रीरेवास्ति। (क्षेमो वै रा०) क्षेमो यद्रक्षणं तदेव राष्ट्रस्य शयनवन्निरुपद्रवं सुखं भवति। (विड्वै गभो०) विड या प्रजा सा गभाख्यास्ति, (राष्ट्रं पसो०) यद्राष्ट्रं तत्पसाख्यं भवति, तस्माद्यद्राष्ट्रसम्बन्धि कर्म तद्विशि प्रजायामाविश्य तामाहन्त्यासमन्तात्करग्रहणेन प्रजाया उत्तमपदार्थानां हरणं करोति, (तस्माद्राष्ट्रीवि०) यस्मात्सभया विनैकाकी पुरुषो भवति तत्र प्रजा सदा पीडिता भवति, तस्मादेकः पुरुषो राजा नैव कर्त्तव्यो, नैकस्य पुरुषस्य राजधर्मानुष्ठाने यथावत् सामर्थ्यं भवति, तस्मात्सभयैव राज्यप्रबन्धः कर्त्तुं शक्योऽस्ति। (विशमेव राष्ट्रया०) यत्रैको राजास्ति तत्र राष्ट्राय विशं प्रजामाद्यां भक्षणीयां भोज्यवत्ताडितां करोति। यत्स्मात्स्वसुखार्थं प्रजाया उत्तमान्पदार्थान् गृह्णन्सन् प्रजायै पीडां ददाति तस्मादेको राष्ट्री विशमत्ति, (न पुष्टं पशुम०) तथा मांसाहारी पुष्टं पशुं

दृष्ट्वा हन्तुमिच्छति तथैको राजा न मत्तः कश्चिदधिको भवेदितीर्ष्यया नैव प्रजास्थस्य कस्यचिन्मनुष्यस्योत्कर्षं सहते । तस्मात्सभाप्रबन्धयुक्तेन राज्यव्यवहारेणैव भद्रमित्येवं राजधर्मव्यवहारप्रतिपादका मन्त्रा बहवः सन्तीति ।

भाषार्थ

(श्रीर्वै राष्ट्रं) श्री जो है लक्ष्मी वही राज्य का स्वरूप, सामग्री और मध्य है । तथा राज्य का जो रक्षण करना है वही शोभा अर्थात् श्रेष्ठभाग कहाता है । राज्य के लिये एक को राजा कभी नहीं मानना चाहिये । क्योंकि जहां एक को राजा मानते हैं वहां सब प्रजा दुखी और उसके उत्तम पदार्थों का अभाव हो जाता है, इसी से किसी की उन्नति नहीं होती । इसी प्रकार सभा करके राज्य का प्रबन्ध आर्य्यों में श्रीमन्महाराज युधिष्ठिरपर्य्यन्त बराबर चला आया है कि जिसकी साक्षी महाभारत के राजधर्म आदि ग्रन्थ तथा मनुस्मृत्यादि धर्मशास्त्रों में यथावत् लिखी है । उनमें जो कुछ प्रक्षिप्त किया है उसको छोड़ के बाक़ी सब अच्छा है, क्योंकि वह वेदों के अनुकूल है । और आर्य्यों की यह एक बात बड़ी उत्तम थी कि जिस सभा वा न्यायाधीश के सामने अन्याय हो वह प्रजा का दोष नहीं मानते थे, किन्तु वह दोष सभाध्यक्ष, सभासद् और न्यायाधीश का ही गिना जाता था । इसलिये वे लोग सत्य न्याय करने में अत्यन्त पुरुषार्थ करते थे कि जिससे आर्य्यावर्त्त के न्यायघर में कभी अन्याय नहीं होता था और जहां होता था वहां उन्हीं न्यायाधीशों को दोष देते थे । यही सब आर्यों का सिद्धान्त है अर्थात् इन्हीं वेदादि शास्त्रों की रीति से आर्यों ने भूगोल में करोड़ों वर्ष राज्य किया है, इसमें कुछ सन्देह नहीं ।

इति संक्षेपतो राजप्रजाधर्मविषयः

अथ वर्णाश्रमविषयः संक्षेपतः

तत्र वर्णविषयो मन्त्रो "ब्राह्मणो ऽस्य मुखमासी"दित्युक्तस्तदर्थश्च । तस्यायं शेषः ॥ वर्णो वृणोतेः ॥ १ ॥ नि० अ० २ । खं० ३ ॥ ब्रह्म हि ब्राह्मणः । क्षत्रꣳ हीन्द्रः, क्षत्रꣳ राजन्यः ॥ २ ॥ श० कां० ५ । अ० १ । ब्रा० १ । कं० ११ ॥ बाहू वै मित्रावरुणौ पुरुषो गर्त्तः ॥ श० कां० ५ । अ० ४ । ब्रा० ३ । कं० १५ ॥ वीर्य्यं वा एतद्राजन्यस्य

यद्बाहू वीर्य्यं वा एतदपाᳬ रसः ॥ श० कां० ५ । अ० ४ । ब्रा० ३ । कं० १७ ॥ इषवो वै दिद्यवः । ३ ॥ श० कां० ५ । अ० ४ । ब्रा० ४ । कं० २ ॥

भाष्यम्

वर्णो वृणोतेरिति निरुक्तप्रामाण्याद्वरणीया वरीतुमर्हा, गुणकर्माणि च दृष्ट्वा यथायोग्यं व्रियन्ते ये ते वर्णाः ॥ १ ॥ (ब्रह्म हि ब्राह्मणः) ब्रह्मणा वेदेन परमेश्वरस्योपासनेन च सह वर्त्तमानो विद्याद्युत्तमगुणयुक्तः पुरुषो ब्राह्मणो भवितुमर्हति । तथैव (क्षत्रᳬ हीन्द्रः०) क्षत्रं क्षत्रियकुलम्, यः पुरुष इन्द्रः परमैश्वर्य्यवान् शत्रूणां क्षयकरणाद्युद्धोत्सुकत्वाच्च प्रजापालनतत्परः (राजन्यः) क्षत्रियो भवितुमर्हति ॥ २ ॥ (मित्रः) सर्वेभ्यः सुखदाता, (वरुणः) उत्तमगुणकर्मधारणेन श्रेष्ठः, इमावेव क्षत्रियस्य द्वौ बाहुवद् भवेताम् । (वा) अथवा वीर्यं पराक्रमो बलं चैतदुभयं राजन्यस्य क्षत्रियस्य बाहू भवतः । अपां प्राणानां यो रस आनन्दस्तं प्रजाभ्यः प्रयच्छतः क्षत्रियस्य वीर्य्यं वर्धते । तस्य (इषवः) बाणाः, शस्त्रास्त्राणामुपलक्षणमेतत्, (दिद्यवः) प्रकाशकाः सदा भवेयुः ॥३॥

भाषार्थ

अब वर्णाश्रमविषय लिखा जाता है । इस में यह विशेष जानना चाहिये कि प्रथम मनुष्यजाति सब की एक है, सो भी वेदों से सिद्ध है, इस विषय का प्रमाण सृष्टि-विषय में लिख दिया है । तथा (ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीत्) यह मन्त्र सृष्टि विषय में लिख चुके हैं । वर्णों के प्रतिपादन करनेवाले वेदमन्त्रों की जो व्याख्या ब्राह्मण और निरुक्तादि ग्रन्थों में लिखी है वह कुछ यहां भी लिखते हैं । मनुष्यजाति के ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र ये वर्ण कहाते हैं । वेदरीति से इन के दो भेद हैं, एक आर्य्य और दूसरा दस्यु । इस विषय में यह प्रमाण है कि (विजानीह्यार्य्यान्ये च दस्यवो०) अर्थात् इस मन्त्र से परमेश्वर उपदेश करता है कि हे जीव ! तू आर्य्य अर्थात् श्रेष्ठ और दस्यु अर्थात् दुष्टस्वभावयुक्त डाकू आदि नामों से प्रसिद्ध मनुष्यों के ये दो भेद जान ले । तथा (उत शूद्रे उत आर्य्ये) इस मन्त्र से भी आर्य्य ब्राह्मण क्षत्रिय वैश्य और अनार्य्य अर्थात् अनाड़ी जो कि शूद्र कहाते हैं ये दो भेद जाने गये हैं । तथा (असुर्या नाम ते लोका०) इस मन्त्र से भी देव और असुर अर्थात् विद्वान् और मूर्ख ये दो ही भेद जाने जाते हैं । और इन्हीं दोनों के विरोध

को देवासुर संग्राम कहते हैं । ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र ये चार भेद गुण कर्मों से किये गये हैं । (वर्णो०) इन का नाम वर्ण इसलिये है कि जैसे जिस के गुण कर्म हों वैसा ही उस को अधिकार देना चाहिये । (ब्रह्म हि ब्रा०) ब्रह्म अर्थात् उत्तम कर्म करने से उत्तम विद्वान् ब्राह्मणवर्ण होता है । (क्षत्रं हि०) परमैश्वर्य्य (बाहू०) बल, वीर्य्य के होने से मनुष्य क्षत्रियवर्ण होता है, जैसा कि राजधर्म में लिख आये हैं

आश्रमा अपि चत्वारः सन्ति ब्रह्मचर्य्यगृहस्थवानप्रस्थसंन्यासभेदात् । ब्रह्मचर्य्येण सद्विद्या शिक्षा च ग्राह्या । गृहाश्रमेणोत्तमाचरणानां श्रेष्ठानां पदार्थानां चोन्नतिः कार्य्या । वानप्रस्थेनैकान्तसेवनं ब्रह्मोपासनं विद्याफलविचारणादि च कार्य्यम् । संन्यासेन परब्रह्ममोक्षपरमानन्दप्रापणं क्रियते, सदुपदेशेन सर्वस्मा आनन्ददानं चेत्यादि चतुर्भिराश्रमैर्धर्मार्थकाममोक्षाणां सम्यक् सिद्धिः सम्पादनीया । एतेषां मुख्यतया ब्रह्मचर्य्येण सद्विद्यासुशिक्षादयः शुभगुणाः सम्यग्ग्राह्याः । अत्र ब्रह्मचर्य्याश्रमे प्रमाणम्—

आचार्य्य उपनयमानो ब्रह्मचारिणं कृणुते गर्भमन्तः । तं रात्रीस्तिस्र उदरे बिभर्त्ति तं जातं द्रष्टुमभिसंयन्ति देवाः ॥ १ ॥ इयं समित्पृथिवी द्यौर्द्वितीयोतान्तरिक्षं समिधा पृणाति । ब्रह्मचारी समिधा मेखलया श्रमेण लोकांस्तपसा पिपर्त्ति ॥ २ ॥ पूर्वो जातो ब्रह्मणो ब्रह्मचारी घर्मं वसानस्तपसोदतिष्ठत् । तस्माज्जातं ब्राह्मणं ब्रह्मज्येष्ठं देवाश्च सर्वे अमृतेन साकम् ॥ ३ ॥ अथर्व० कां० ११ । अनु० ३ । सू० ५ । मं० ३ । ४ । ५ ॥

भाष्यम्

(आचार्य्य उ०) आचार्य्यो विद्याध्यापको ब्रह्मचारिणमुपनयमानो विद्यापठनार्थमुपवीतं दृढव्रतमुपदिशन्नन्तर्गर्भमिव कृणुते करोति । तं तिस्रो रात्रीस्त्रिदिनपर्य्यन्तमुदरे बिभर्त्ति । अर्थात् सर्वां शिक्षां करोति पठनस्य च रीतिमुपदिशति । यदा विद्यायुक्तो विद्वान् जायते तदा तं विद्यासु जातं प्रादुर्भूतं देवा विद्वांसो द्रष्टुमभिसंयन्ति प्रसन्नतया तस्य मान्यं कुर्वन्ति । अस्माकं मध्ये महाभाग्योदयेनेश्वरानुग्रहेण च सर्वमनुष्योपकारार्थं त्वं विद्वान् जात इति प्रशंसन्ति ॥ १ ॥ (इयं समित्०) इयं पृथिवी द्यौः प्रकाशोन्तरिक्षं चानया समिधा स ब्रह्मचारी

पृणाति, तत्रस्थान् सर्वान् प्राणिनो विद्यया होमेन च प्रसन्नान् करोति, (समिधा) अग्निहोत्रादिना, मेखलया ब्रह्मचर्य्यचिह्नधारणेन च, (श्रमेण) परिश्रमेण, (तपसा) धर्मानुष्ठानेनाध्यापनेनोपदेशेन च (लोकां०) सर्वान् प्राणिनः पिपर्त्ति पुष्टान्प्रसन्नान्करोति ॥ २ ॥ (पूर्वो जातो ब्रह्म०) ब्रह्मणि वेदे चरितुं शीलं यस्य स ब्रह्मचारी, (घर्मं वसानः) अत्यन्तं तपश्चरन्, ब्राह्मणोऽर्थाद्वेदं परमेश्वरं च विदन्, पूर्वः सर्वेषामाश्रमाणामादिमः सर्वाश्रमभूषकः, (तपसा) धर्मानुष्ठानेन (उदतिष्ठत्) ऊर्ध्वे उत्कृष्टबोधे व्यवहारे च तिष्ठति । तस्मात्कारणात् (ब्रह्मज्येष्ठं) ब्रह्मैव परमेश्वरो विद्या वा ज्येष्ठा सर्वोत्कृष्टा यस्य तं ब्रह्मज्येष्ठम्, (अमृतेन) परमेश्वरमोक्षबोधेन परमानन्देन साकं सह वर्त्तमानं (ब्राह्मणं) ब्रह्मविदं (जातं) प्रसिद्धं (देवाः) सर्वे विद्वांसः प्रशंसन्ति ॥ ३ ॥

भाषार्थ

अब आगे चार आश्रमों का वर्णन किया जाता है । ब्रह्मचर्य्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ और संन्यास ये चार आश्रम कहाते हैं । इन में से पांच वा आठ वर्ष की उमर से अड़तालीस वर्ष पर्य्यन्त प्रथम ब्रह्मचर्य्याश्रम का समय है । इसके विभाग पितृयज्ञ में में कहेंगे । वह सुशिक्षा और सत्यविद्यादि गुण ग्रहण करने के लिये होता है । दूसरा गृहाश्रम जो कि उत्तम गुणों के प्रचार और श्रेष्ठ पदार्थों की उन्नति से सन्तानों की उत्पत्ति और उनको सुशिक्षित करने के लिये किया जाता है । तीसरा वानप्रस्थ जिससे ब्रह्मविद्यादि साक्षात् साधन करने के लिये एकान्त में परमेश्वर का सेवन किया जाता है । चौथा संन्यास जो कि परमेश्वर अर्थात् मोक्षसुख की प्राप्ति और सत्योपदेश से सब संसार के उपकार के अर्थ किया जाता है । धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष इन चारों पदार्थों की प्राप्ति के लिये इन चार आश्रमों का सेवन करना सब मनुष्यों को उचित है । इन में से प्रथम ब्रह्मचर्य्याश्रम जो कि सब आश्रमों का मूल है उसके ठीक २ सुधरने से सब आश्रम सुगम और बिगड़ने से नष्ट हो जाते हैं । इस आश्रम के विषय में वेदों के अनेक प्रमाण हैं, उन में से कुछ यहां भी लिखते हैं । (आचार्य्य उ०) अर्थात् जो गर्भ में बस के माता और पिता के सम्बन्ध से मनुष्य का जन्म होता है वह प्रथम जन्म कहाता है और दूसरा यह है कि जिसमें आचार्य्य पिता और विद्या माता होती है । इस दूसरे जन्म के न होने से मनुष्य को मनुष्यपन नहीं प्राप्त होता । इसलिये उस को प्राप्त होना मनुष्यों को अवश्य चाहिये । जब आठवें

वर्ष पाठशाला में जाकर आचार्य्य अर्थात् विद्या पढ़ाने वाले के समीप रहते हैं तभी से उनका नाम ब्रह्मचारी वा ब्रह्मचारिणी हो जाता है । क्योंकि वे ब्रह्म वेद और परमेश्वर के विचार में तत्पर होते हैं । उनको आचार्य तीन रात्रिपर्य्यन्त गर्भ में रखता है । अर्थात् ईश्वर की उपासना धर्म परस्पर विद्या के पढ़ने और विचारने की युक्ति आदि जो मुख्य २ बातें हैं वे सब तीन दिन में उनको सिखाई जाती हैं तीन दिन के उपरान्त उनको देखने के लिये अध्यापक अर्थात् विद्वान लोग आते हैं ॥ १ ॥ (इयं समित्०) फिर उस दिन होम करके उनको प्रतिज्ञा कराते हैं कि जो ब्रह्मचारी पृथिवी, सूर्य्य और अन्तरिक्ष इन तीनों प्रकार की विद्याओं को पालन और पूर्ण करने की इच्छा करता है सो इन समिधाओं से पुरुषार्थ करके सब लोकों को धर्मानुष्ठान से पूर्ण आनन्दित कर देता है ॥ २ ॥ (पूर्वो जातो ब्र०) जो ब्रह्मचारी पूर्व पढ़ के ब्राह्मण होता है वह धर्मानुष्ठान से अत्यन्त पुरुषार्थी होकर सब मनुष्यों का कल्याण करता है । (ब्रह्म ज्येष्ठं०) फिर उस पूर्ण विद्वान् ब्राह्मण को जो कि अमृत अर्थात् परमेश्वर की पूर्ण भक्ति और धर्मानुष्ठान से युक्त होता है देखने के लिये सब विद्वान् आते हैं ॥ ३ ॥

ब्रह्मचार्य्येति समिधा समिद्धः कार्ष्णं वसानो दीक्षितो दीर्घश्मश्रुः । स सद्य एति पूर्वस्मादुत्तरं समुद्रं लोकान्त्संगृभ्य मुहुराचरिक्रत ॥ ४ ॥ ब्रह्मचारी जनयन् ब्रह्मापो लोकं प्रजापतिं परमेष्ठिनं विराजम् । गर्भो भूत्वामृतस्य योनाविन्द्रो ह भूत्वाऽसुरांस्ततर्ह ॥५॥ ब्रह्मचर्य्येण तपसा राजा राष्ट्रं वि रक्षति । आचार्य्यो ब्रह्मचर्य्येण ब्रह्मचारिणमिच्छते ॥ ६ ॥ ब्रह्मचर्य्येण कन्या३युवानं विन्दते पतिम् । अनड्वान् ब्रह्मचर्य्येणाश्वो घासं जिगीषति ॥ ७ ॥ ब्रह्मचर्य्येण तपसा देवा मृत्युमुपाघ्नत । इन्द्रो ह ब्रह्मचर्य्येण देवेभ्यः स्वराभरत् ॥ ८ ॥ अथर्व० कां० ११ । अनु० ३ । मू० ५ । मं० ६ । ७ । १७ । १८ । १९ ॥

भाष्यम्

(ब्रह्मचार्य्येति०) स ब्रह्मचारी पूर्वोक्तया (समिधा) विद्यया (समिद्धः) प्रकाशितः, (कार्ष्णं) मृगचर्मादिकं (वसानः) आच्छादयन्, (दीर्घश्मश्रुः) दीर्घकालपर्य्यन्तं केशश्मश्रूणि धारितानि येन सः, (दीक्षितः) प्राप्तदीक्षः (एति) परमानन्दं प्राप्नोति । तथा (पूर्वस्मात्) ब्रह्मचर्यानुष्ठानभूतात्समुद्रात् (उत्तरं)

गृहाश्रमं समुद्रं (सद्य एति) शीघ्रं प्राप्नोति, एवं निवासयोग्यान्सर्वान् (लोकान्त्सं०) संगृह्य मुहुर्वारंवारं (आचरिक्रत्) धर्मोपदेशमेव करोति ॥ ४ ॥ (ब्रह्मचारी०) स ब्रह्मचारी (ब्रह्म) वेदविद्यां पठन्, (अपः) प्राणान्, ((लोकं) दर्शनं, (परमेष्ठिनं) प्रजापतिं (विराजं) विविधप्रकाशकं परमेश्वरं (जनयन्) प्रकटयन्, (अमृतस्य) मोक्षस्य (योनौ) विद्यायां (गर्भो भूत्वा) गर्भवन्नियमेन स्थित्वा यथावद्विद्यां गृहीत्वा, (इन्द्रो ह भूत्वा) सूर्य्यवत्प्रकाशकः सन् (असुरान्) दुष्टकर्मकारिणो मूर्खान्पाषण्डिनो जनान् दैत्यरक्षःस्वभावान् (ततर्ह) तिरस्करोति, सर्वान्निवारयति । यथेन्द्रः सूर्य्योऽसुरान्मेघान् रात्रिं च निवारयति तथैव ब्रह्मचारी सर्वशुभगुणप्रकाशकोऽशुभगुणनाशकश्च भवतीति ॥ ५ ॥ (ब्रह्मचर्य्येण०) तपसा ब्रह्मचर्य्येण कृतेन राजा राष्ट्रं विरक्षति, विशिष्टतया प्रजा रक्षितुं योग्यो भवति । आचार्य्योपि कृतेन ब्रह्मचर्य्येणैव विद्यां प्राप्य ब्रह्मचारिणमिच्छते स्वीकुर्य्यान्नान्यथेति ॥ ६ ॥ अत्र प्रमाणम् । आचार्य्यः कस्मादाचारं ग्राहयत्याचिनोत्यर्थानाचिनोति बुद्धिमिति वा ॥ निरुक्त अ० १ । खं० ४ ॥ (ब्रह्मचर्य्येण०) एवमेव कृतेन ब्रह्मचर्य्येणैव कन्या युवतिः सती युवानं स्वसदृशं पतिं विन्दते, नान्यथा, न चातः पूर्वमसदृशं वा । अनड्वानित्युपलक्षणं वेगवतां पशूनां, ते पशवोऽश्वश्च घासं यथा, तथा कृतेन ब्रह्मचर्य्येण स्वविरोधिनः पशून् जिगीषन्ति युद्धेन जेतुमिच्छन्ति । अतो मनुष्यैस्त्ववश्यं ब्रह्मचर्य्यं कर्त्तव्यमित्यभिप्रायः ॥ ७ ॥ (ब्रह्मचर्य्येण तपसा देवा०) देवा विद्वांसो, ब्रह्मचर्य्येण वेदाध्ययनेन ब्रह्मविज्ञानेन तपसा धर्मानुष्ठानेन च, मृत्युं जन्ममृत्युप्रभवदुःखमुपाघ्नत, नित्यं घ्नन्ति, नान्यथा । ब्रह्मचर्य्येण सुनियमेन (हेति किलार्थे) यथा इन्द्रः सूर्य्यो देवेभ्य इन्द्रियेभ्यः स्वः सुखं प्रकाशं चाभरद्धारयति । तथा विना ब्रह्मचर्य्येण कस्यापि नैव विद्यासुखं च यथावद्भवति । अतो ब्रह्मचर्य्यानुष्ठानपूर्वका एव गृहाश्रमादयस्त्रय आश्रमाः सुखमेधन्ते । अन्यथा मूलाभावे कुतः शाखाः, किन्तु मूले दृढे शाखापुष्पफलच्छायादयः सिद्धाः भवन्त्येवेति ॥ ८ ॥

भाषार्थ

(ब्रह्मचार्येति०) जो ब्रह्मचारी होता है वही ज्ञान से प्रकाशित, तप और बड़े २ केश श्मश्रुओं से युक्त दीक्षा को प्राप्त होके विद्या को प्राप्त होता है । तथा जो कि शीघ्र ही विद्या को ग्रहण करके पूर्व समुद्र जो ब्रह्मचर्य्याश्रम का अनुष्ठान है उसके

पार उतर के उत्तर समुद्रस्वरूप गृहाश्रम को प्राप्त होता है और अच्छी प्रकार विद्या का संग्रह करके विचारपूर्वक अपने उपदेश का सौभाग्य बढ़ाता है ॥४॥ (ब्रह्मचारी ज०) वह ब्रह्मचारी वेदविद्या को यथार्थ जान के प्राणविद्या, लोकविद्या तथा प्रजापति परमेश्वर जो कि सब से बड़ा और सब का प्रकाशक है उस का जानना, इन विद्याओं में गर्भरूप और इन्द्र अर्थात् ऐश्वर्य्य युक्त हो के असुर अर्थात् मूर्खों की अविद्या को छेदन कर देता है ॥ ५ ॥ (ब्रह्मचर्य्येण त०) पूर्ण ब्रह्मचर्य्य से विद्या पढ़ के और सत्यधर्म के अनुष्ठान से राजा राज्य करने को और आचार्य्य विद्या पढ़ाने को समर्थ होता है आचार्य्य उसको कहते हैं कि जो अत्याचार को छुड़ा के सत्याचार का और अनर्थों को छुड़ा के अर्थों का ग्रहण कराके ज्ञान को बढ़ा देता है ॥ ६ ॥ (ब्रह्मचर्य्येण क०) अर्थात् जब वह कन्या ब्रह्मचर्य्याश्रम से पूर्ण विद्या पढ़ चुके तब अपनी युवावस्था में पूर्ण जवान पुरुष को अपना पति करे । इसी प्रकार पुरुष भी सुशील धर्मात्मा स्त्री के साथ प्रसन्नता से विवाह करके दोनों परस्पर सुख दुःख में सहायकारी हों । क्योंकि अनड्वान् अर्थात् पशु भी जो पूरी जवानी पर्य्यन्त ब्रह्मचर्य्य अर्थात् सुनियम में रक्खा जाय तो अत्यन्त बलवान् हो के निर्बल जीवों को जीत लेता है ॥ ७ ॥ (ब्रह्मचर्य्येण त०) ब्रह्मचर्य्य और धर्मानुष्ठान से ही विद्वान् लोग जन्म मरण को जीत के मोक्षसुख को प्राप्त हो जाते हैं । जैसे इन्द्र अर्थात् सूर्य्य परमेश्वर के नियम में स्थित हो के सब लोकों का प्रकाश करने वाला हुआ है वैसे ही मनुष्य का आत्मा ब्रह्मचर्य्य से प्रकाशित हो के सब को प्रकाशित कर देता है । इससे ब्रह्मचर्य्याश्रम ही सब आश्रमों से उत्तम है ॥ ८ ॥

इति ब्रह्मचर्य्याश्रमविषयः संक्षेपतः

अथ गृहाश्रमविषयः

यद् ग्रामे यदरण्ये यत्सभायां यदिन्द्रिये । यदेनश्चकृमा वयमिदं तदव यजामहे स्वाहा ॥ ९ ॥ देहि मे ददामि ते नि मे धेहि नि ते दधे । निहारं च हरासि मे निहारं निहराणि ते स्वाहा ॥ १० ॥ गृहा मा बिभीत मा वेपध्वमूर्जं बिभ्रत एमसि । ऊर्जं बिभ्रद्वः सुमनाः सुमेधा गृहानैमि मनसा मोदमानः ॥ ११ ॥ येषामध्येति

प्रवस॒न्न्येषु सौमन॒सो ब॒हुः । गृ॒हानुप॑ ह्वयामहे ते नो॑ जानन्तु जान॒तः ॥ २१ ॥ उप॑हूता इ॒ह गाव॒ उप॑हूता अजा॒वयः॑ । अथो॒ अन्न॑स्य की॒लाल॒ उप॑हूतो गृ॒हेषु॑ नः । क्षेमा॑य व॒: शान्त्यै॒ प्रप॑द्ये शि॒वꣳ श॒ग्मꣳ शंयोः शंयोः ॥ १३ ॥ य० अ० ३ । मं० ४५ । ५० । ४१ । ४२ । ४३ ॥

भाष्यम्

(एषामभि०) एतेषु गृहाश्रमविधानं क्रियत इति । (यद् ग्रामे०) यद् ग्रामे गृहाश्रमे वसन्तो वयं पुण्यं विद्याप्रचारं सन्तानोत्पत्तिमत्युत्तमसामाजिकनियमं सर्वोपकारकं, तथैवारण्ये वानप्रस्थाश्रमे ब्रह्मविचारं विद्याध्ययनं तपश्चरणं, सभासम्बन्धे यच्छ्रेष्ठं, इन्द्रिये मानसव्यवहारे च यदुत्तमं कर्म च कुर्मस्तत्सर्वमीश्वरमोक्षप्राप्त्यर्थमस्तु । यच्च श्रमेणैनः पापं च कृतं तत्सर्वमिदं पापमवयजामह आश्रमानुष्ठानेन नाशयामः ॥ ९ ॥ (देहि मे०) परमेश्वर आज्ञापयति हे जीव ! त्वमेवं वद, मे मह्यं देहि, मत्सुखार्थं विद्यां द्रव्यादिकं च त्वं देहि, अहमपि ते तुभ्यं ददामि । मे मह्यं मदर्थं त्वमुत्तमस्वभावदानमुदारतां सुशीलतां च धेहि धारय, ते तुभ्यं त्वदर्थमहमहप्येवं त्त दधे । तथैव धर्मव्यवहारं क्रयदानादानाख्यं च हरासि प्रयच्छ, तथैवाहमपि ते तुभ्यं त्वदर्थं निहराणि नित्यं प्रयच्छानि ददानि । स्वाहेति सत्यभाषणं, सत्यमानं, सत्याचरणं, सत्यवचनश्रवणं च सर्वे वयं मिलित्वा कुर्य्यामेति सत्येनैव सर्वं व्यवहारं कुर्य्युः ॥ १० ॥ (गृहा०) हे गृहाश्रममिच्छन्तो मनुष्याः ! स्वयंवरं विवाहं कृत्वा यूयं गृहाणि प्राप्नुत । गृहाश्रमानुष्ठाने (मा बिभीत) भयं मा प्राप्नुत । तथा (मा वेपध्वं) मा कम्पध्वम् । (ऊर्जं बिभ्रत एमसि) ऊर्जं बलं पराक्रमं च बिभ्रतः, पदार्थानमासि वयं प्राप्नुम इतीच्छत । (ऊर्जं बिभ्रद्वः) वो युष्माकं मध्येऽहमूर्जं बिभ्रत्सन्, (सुमनाः) शुद्धमनाः, सुमेधोत्तमबुद्धियुक्तः, (मनसा मोदमानः) प्राप्तानन्दः (गृहानैमि) गृहाणि प्राप्नोमि ॥ ११ ॥ (येषामध्येति प्र०) येषु गृहेषु प्रवसतो मनुष्यस्य (बहुः) अधिकः (सौमनसः) आनन्दो भवति । तत्र प्रवसन् येषां यान्पदार्थान्सुखकारकान्स (अध्येति) स्मरति, (गृहानुपह्वयामहे) वयं गृहेषु विवाहादिषु सत्कारार्थं तान् गृहसम्बन्धिनः सखिबन्ध्वाचार्य्यादीन्निमन्त्रयामहे । (ते नः) विवाहनियमेषु कृतप्रतिज्ञानस्मान् (जानतः) प्रौढज्ञानान्, युवावस्थास्थान्स्वेच्छया कृतविवाहान्, ते (जानन्तु) अस्माकं साक्षिणः सन्त्विति ॥ १२ ॥ (उपहूता

इह०) हे परमेश्वर ! भवत्कृपया इहास्मिन् गृहाश्रमे (गावः) पशुपृथिवीन्द्रिय-विद्याप्रकाशाह्लादादयः (उपहूताः) अर्थात्सम्यक् प्राप्ता भवन्तु । तथा (अजावयः) उपहूता अस्मदनुकूला भवन्तु । (अथो अन्नस्य की०) अथो इति पूर्वोक्तपदार्थ-प्राप्त्यनन्तरं नोऽस्माकं गृहेष्वन्नस्य भोक्तव्यपदार्थसमूहस्य कीलालो विशेषेणोत्त-मरस उपहूतः सम्यक् प्राप्तो भवतु । (क्षेमाय वः शान्त्यै०) वो युष्मान्, अत्र पुरुषव्यत्ययोस्ति तान्पूर्वोक्तान्प्रत्यक्षान्पदार्थान् (क्षेमाय) रक्षणाय (शान्त्यै) सुखाय प्रपद्ये प्राप्नोमि । तत्प्राप्त्या (शिवं) निश्श्रेयसं कल्याणं पारमार्थिकं सुखं (शग्मं) सांसारिकमाभ्युदयिकं सुखं च प्राप्नुयाम् । शंयोः (निघं० ४ । १) शमिति (शग्ममिति ?) निघण्टौ पदनामास्ति । परोपकाराय गृहाश्रमे स्थित्वा पूर्वोक्तस्य द्विविधस्य सुखस्योन्नतिं कुर्म्मः ॥ १३ ॥

भाषार्थ

(यद् ग्रामे०) गृहाश्रमी को उचित है कि जब वह पूर्ण विद्या को पढ़ चुके तब अपने तुल्य स्त्री से स्वयंवर करे और वे दोनों यथावत् उन विवाह के नियमों में चलें जो कि विवाह और नियोग के प्रकरणों में लिख आये हैं । परन्तु उन से जो विशेष कहना है सो यहां लिखते हैं । गृहस्थ स्त्री पुरुषों को धर्म उन्नति और ग्राम-वासियों के हित के लिये जो २ काम करना है, तथा (यदरण्ये) वनवासियों के साथ हित और (यत्सभायाम्) सभा के बीच में सत्य विचार और अपने सामर्थ्य से संसार को सुख देने के लिये, (यदिन्द्रिये०) जितेन्द्रियता से ज्ञान की वृद्धि करनी चाहिये सो २ सब काम अपने पूर्ण पुरुषार्थ के साथ यथावत् करें । और (यदेनश्चकृ०) पाप करने की बुद्धि को हम लोग मन, वचन और कर्म से छोड़ कर सर्वथा सब के हितकारी बनें ॥ ९ ॥ परमेश्वर उपदेश करता है कि (देहि मे०) जो सामाजिक नियमों की व्यवस्था के अनुसार ठीक २ चलना है यही गृहस्थ की परम उन्नति का कारण है जो वस्तु किसी से लेवें अथवा देवें सो भी सत्यव्यवहार के साथ करें । (नि मे धेहि, नि ते दधे) अर्थात् मैं तेरे साथ यह काम करूंगा और तू मेरे साथ ऐसा करना, ऐसे व्यवहार को भी सत्यता से करना चाहिये । (निहारं च हरासि मे नि०) यह वस्तु मेरे लिये तूं दे वा तेरे लिये मैं दूंगा इस को भी यथावत् पूरा करें । अर्थात् किसी प्रकार का मिथ्या व्यवहार किसी से न करें । इस प्रकार गृहस्थ लोगों के सब व्यवहार सिद्ध होते हैं । क्योंकि जो गृहस्थ विचारपूर्वक सब के हितकारी

काम करते हैं उनकी सदा उन्नति होती है ॥ १० ॥ (गृहा मा बिभीत०) हे गृहाश्रम की इच्छा करने वाले मनुष्य लोगो ! तुम लोग स्वयंवर अर्थात् अपनी इच्छा के अनुकूल विवाह करके गृहाश्रम को प्राप्त हो और उससे डरो वा कम्पो मत । किन्तु उससे बल, पराक्रम करनेवाले पदार्थों को प्राप्त होने की इच्छा करो । तथा गृहाश्रमी पुरुषों से ऐसा कहो कि मैं परमात्मा की कृपा से आप लोगों के बीच पराक्रम, शुद्ध मन, उत्तम बुद्धि और आनन्द को प्राप्त होकर गृहाश्रम करूं ॥ ११ ॥ (येषामध्येति०) जिन घरों में वसते हुए मनुष्यों को अधिक आनन्द होता है, उन में वे मनुष्य अपने सम्बन्धी, मित्र, बन्धु और आचार्य्य आदि का स्मरण करते हैं और उन्हीं लोगों को विवाहादि शुभ कार्य्यों में सत्कार से बुलाकर उन से यह इच्छा करते हैं कि ये सब हम को युवावस्थायुक्त और विवाहादि नियमों में ठीक २ प्रतिज्ञा करनेवाले जानें अर्थात् हमारे साक्षी हों ॥ १२ ॥ (उपहू०) हे परमेश्वर ! आपकी कृपा से हम लोगों को गृहाश्रम में पशु, पृथिवी, विद्या, प्रकाश, आनन्द, बकरी और भेड़ आदि पदार्थ अच्छी प्रकार से प्राप्त हों । तथा हमारे घरों में उत्तम रसयुक्त खाने पीने के योग्य पदार्थ सदा बने रहें । (वः) यह पद पुरुषव्यत्यय से सिद्ध होता है । हम लोग उक्त पदार्थों को उन की रक्षा और अपने सुख के लिये प्राप्त हों । फिर उस प्राप्ति से हमको परमार्थ और संसार का सुख मिले । (शंयोः) यह निघण्टु में प्रतिष्ठा अर्थात् सांसारिक सुख का नाम है ॥ १३ ॥

इति गृहाश्रमविषयः संक्षेपतः

अथ वानप्रस्थविषयः संक्षेपतः

त्रयो धर्मस्कन्धा यज्ञोऽध्ययनं दानमिति । प्रथमस्तप एव द्वितीयो ब्रह्मचार्य्याचार्य्यकुलवासी तृतीयोऽत्यन्तमात्मानमाचार्य्यकुलेऽवसादयन् । सर्व एते पुण्यलोका भवन्ति ॥ छान्दोग्य० प्र० २। खं० २३ ॥

भाष्यम्

(त्रयो धर्म०) अत्र सर्वेष्वाश्रमेषु धर्मस्य स्कन्धा अवयवास्त्रयः सन्ति । अध्ययनं, यज्ञः क्रियाकाण्डं, दानं च । तत्र प्रथमे ब्रह्मचारी तपःसुशिक्षाधर्मानु-

ष्ठानेनाचार्य्यकुले वसति । द्वितीयो गृहाश्रमी । तृतीयोऽत्यन्तमात्मानमवसादयन् हृदये विचारयन्नेकान्तदेशं प्राप्य सत्यासत्ये निश्चिनुयात् स वानप्रस्थाश्रमी । एते सर्वे ब्रह्मचर्य्यादयस्त्रय आश्रमाः पुण्यलोकाः सुखनिवासाः सुखयुक्ता भवन्ति, पुण्यानुष्ठानादेवाश्रमसंख्या जायते । ब्रह्मचर्य्याश्रमेण गृहीतविद्यो धर्मेश्वरादि सम्यङ् निश्चित्य, गृहाश्रमेण तदनुष्ठानं तद्विज्ञानवृद्धिं च कृत्वा, ततो वनमेकान्तं गत्वा, सम्यक् सत्यासत्यवस्तुव्यवहारान्निश्चित्य, वानप्रस्थाश्रमं समाप्य सन्न्यासी भवेत् । अर्थाद् ब्रह्मचर्य्याश्रमं समाप्य गृही भवेत्, गृही भूत्वा वनी भवेद्वनी भूत्वा प्रव्रजेदित्येकः पक्षः । (यदहरेव विरजेत तदहरेव प्रव्रजेद्वनाद्वा गृहाद्वा) अस्मिन् पक्षे वानप्रस्थाश्रममकृत्वा गृहाश्रमानन्तरं सन्न्यासं गृह्णीयादिति द्वितीयः पक्षः । ब्रह्मचर्यादेव प्रव्रजेत्, सम्यग्ब्रह्मचर्य्याश्रमं कृत्वा गृहस्थवानप्रस्थाश्रमावकृत्वा सन्न्यासाश्रमं गृह्णीयादिति तृतीयः पक्षः । सर्वत्रान्याश्रमविकल्प उक्तः परन्तु ब्रह्मचर्य्याश्रमानुष्ठानं नित्यमेव कर्त्तव्यमित्यायाति । कुतः । ब्रह्मचर्य्याश्रमेण विनाऽन्याश्रमानुत्पत्तेः ।

भाषार्थ

(त्रयो धर्म०) धर्म के तीन स्कन्ध हैं एक विद्या का अध्ययन, दूसरा यज्ञ अर्थात् उत्तम क्रियाओं का करना, तीसरा दान अर्थात् विद्यादि उत्तम गुणों का देना । तथा प्रथम तप अर्थात् वेदोक्तधर्म के अनुष्ठानपूर्वक विद्या पढ़ाना, दूसरा आचार्य्यकुल में वस के विद्या पढ़ना और तीसरा परमेश्वर का ठीक २ विचार करके सब विद्याओं को जान लेना । इन बातों से सब प्रकार की उन्नति करना मनुष्यों का धर्म है । तथा संन्यासाश्रम के तीन पक्ष हैं । उन में एक यह है कि जो विषय भोग किया चाहे वह ब्रह्मचर्य्य, गृहस्थ और वानप्रस्थ इन आश्रमों को करके संन्यास ग्रहण करे । दूसरा (यदहरेव प्र०) जिस समय वैराग्य अर्थात् बुरे कामों से चित्त हटकर ठीक २ सत्य मार्ग में निश्चित होजाय उस समय गृहाश्रम से भी संन्यास हो सकता है, और तीसरा जो पूर्ण विद्वान् होकर सब प्राणियों का शीघ्र उपकार किया चाहे तो ब्रह्मचर्य्याश्रम से ही संन्यास ग्रहण करले ।

ब्रह्मसंस्थोऽमृतत्वमेति ॥ छान्दो० प्रपा० २ । खं० २३ ॥ तमेतं वेदानुवचनेन विविदिषन्ति । ब्रह्मचर्य्येण तपसा श्रद्धया यज्ञेनानाशकेन चैतमेव विदित्वा मुनिर्भवत्येतमेव प्रव्राजिनो लोकमीप्सन्तः

प्रव्रजन्ति । एतद्ध स्म वै तत्पूर्वे ब्राह्मणाः । अनूचाना विद्वांसः प्रजां न कामयन्ते किं प्रजया करिष्यामो येषां नोऽयमात्मायं लोक इति ते ह स्म पुत्रैषणायाश्च वित्तैषणायाश्च लोकैषणायाश्च व्युत्थायाथ भिक्षाचर्य्यं चरन्ति या ह्येव पुत्रैषणा सा वित्तैषणा या वित्तैषणा सा लोकैषणोभे ह्येते एषणे एव भवतः ॥ श० कां० १४ । अ० ७ । ब्रा० २ । कं० २५ । २६ ॥

भाष्यम्

(ब्रह्मसꣳस्थः०) चतुर्थो ब्रह्मसंस्थः सन्न्यासी (अमृतत्वं) एति प्राप्नोति । (तमेतं वेदा०) सर्व आश्रमिणो विशेषतः सन्न्यासिनस्तमेतं परमेश्वरं सर्वभूताधिपतिं वेदानुवचनेन तदध्ययनेन तच्छ्रवणेन तदुक्तानुष्ठानेन च वेत्तुमिच्छन्ति । (ब्रह्मचर्य्येण०) ब्रह्मचर्य्येण, तपसा धर्मानुष्ठानेन, श्रद्धयाऽत्यन्तप्रेम्णा, यज्ञेन नाशरहितेन विज्ञानेन धर्मक्रियाकाण्डेन चैतं परमेश्वरं विदित्वैव मुनिर्भवति । प्रव्राजिनः सन्न्यासिन एनं यथोक्तं लोकं द्रष्टव्यं परमेश्वरमेवेप्सन्तः प्रव्रजन्ति सन्न्यासाश्रमं गृह्णन्ति । (एतद् ब्रह्म०) य एतादिच्छन्तः सन्तः, पूर्वे अत्युत्तमा, ब्राह्मणा ब्रह्मविदो,ऽनूचाना निश्शङ्काः पूर्णज्ञानिनोऽन्येषां शङ्कानिवारका विद्वांसः प्रजां गृहाश्रमं न कामयन्ते नेच्छन्ति, (ते ह स्म०) हेति स्फुटे, स्मेति स्मये, ते प्रोत्फुल्लाः प्रकाशमाना वदन्ति वयं प्रजया किं करिष्यामः, किमपि नेत्यर्थः । येषां नोऽस्माकमयमात्मा परमेश्वरः प्राप्यो, लोको दर्शनीयश्चास्ति । एवं ते (पुत्रैषणायाश्च) पुत्रोत्पादनेच्छायाः (वित्तैषणायाश्च) जड़धनप्राप्त्यनुष्ठानेच्छायाः (लोकैषणायाश्च) लोके स्वस्य प्रतिष्ठास्तुतिनिन्देच्छायाश्च (व्युत्थाय) विरज्य (भिक्षाचर्य्यं च०) सन्न्यासाश्रमानुष्ठानं कुर्वन्ति । यस्य पुत्रैषणा पुत्रप्राप्त्येषणेच्छा भवति तस्यावश्यं वित्तैषणापि भवति, यस्य वित्तैषणा तस्य निश्चयेन लोकैषणा भवतीति विज्ञायते । तथा यस्यैका लोकैषणा भवति तस्योभे पूर्वे पुत्रैषणालोकैषणे भवतः । यस्य च परमेश्वरमोक्षप्राप्त्येषणेच्छास्ति तस्यैतास्तिस्रो निवर्त्तन्ते । नैव ब्रह्मानन्दवित्तेन तुल्यं लोकवित्तं कदाचिद् भवितुमर्हति । यस्य परमेश्वरे प्रतिष्ठास्ति तस्यान्याः सर्वाः प्रतिष्ठा नैव रुचिता भवन्ति । सर्वान्मनुष्याननुगृह्णन् सर्वदा सत्योपदेशेन सुखयति, तस्य केवलं परोपकारमात्रं सत्यप्रवर्त्तनं प्रयोजनं भवतीति ।

भाषार्थ

(तमेतं०) जो कि वेद को पढ़ के परमेश्वर को जानने की इच्छा करते हैं, (ब्रह्मसंस्थः) वे संन्यासी लोग मोक्षमार्ग को प्राप्त होते हैं। तथा (ब्रह्म च०) जो सत्पुरुष ब्रह्मचर्य्य, धर्मानुष्ठान, श्रद्धायज्ञ और ज्ञान से परमेश्वर को जान के मुनि अर्थात् विचारशील होते हैं वे ही ब्रह्मलोक अर्थात् संन्यासियों के प्राप्तिस्थान को प्राप्त होने के लिये संन्यास लेते हैं। जो उन में उत्तम पूर्ण विद्वान् हैं वे गृहाश्रम और वानप्रस्थ के विना ब्रह्मचर्य्य आश्रम से ही संन्यासी हो जाते हैं और उनके उपदेश से जो पुत्र होते हैं उन्हीं को सब से उत्तम मानकर (पुत्रैषणा) अर्थात् सन्तानोत्पत्ति की इच्छा (वित्तैषणा) अर्थात् धन का लोभ (लोकैषणा) अर्थात् लोक में प्रतिष्ठा की इच्छा करना, इस तीन प्रकार की इच्छा को छोड़ के वे भिक्षाचरण करते हैं। अर्थात् सर्वगुरु सब के अतिथि होके विचरते हुए संसार को अज्ञानरूपी अन्धकार से छुड़ा के सत्यविद्या के उपदेशरूप प्रकाश से प्रकाशित कर देते हैं।

प्राजापत्यामिष्टिं निरूप्य तस्यां सर्ववेदसं हुत्वा ब्राह्मणः प्रव्रजेदिति शतपथे श्रुत्यक्षराणि ॥ यं यं लोकं मनसा संविभाति विशुद्धसत्त्वः कामयते यांश्च कामान्। तं तं लोकं जायते तांश्च कामांस्तस्मादात्मज्ञं ह्यर्चयेद्भूतिकामः ॥ १ ॥ मुण्डकोपनि० मुण्डके ३। खं० १। मं० १० ॥

भाष्यम्

(प्राजापत्या०) स च संन्यासी प्राजापत्यां परमेश्वरदेवताकामिष्टिं कृत्वा, हृदये सर्वमेतन्निश्चित्य, तस्यां (सर्ववेदसं) शिखासूत्रादिकं हुत्वा, मुनिर्मननशीलः सन्, प्रव्रजति संन्यासं गृह्णाति। परन्त्वयं पूर्णविद्यावतां रागद्वेषरहितानां सर्वमनुष्योपकारबुद्धीनां संन्यासग्रहणाधिकारो भवति, नाल्पविद्यानामिति। तेषां संन्यासिनां प्राणापानहोमो, दोषेभ्य इन्द्रियाणां मनसश्च सदा निवर्त्तनं, सत्यधर्मानुष्ठानं चैवाग्निहोत्रम्। किन्तु पूर्वेषां त्रयाणामेवाश्रमिणामनुष्ठातुं योग्यं, यच्च ह्यक्रियामयमस्ति, संन्यासिनां तन्न। सत्योपदेश एव संन्यासिनां ब्रह्मयज्ञः। देवयज्ञो ब्रह्मोपासनम्। विज्ञानिनां प्रतिष्ठाकरणं पितृयज्ञः। ह्यज्ञेभ्यो ज्ञानदानं, सर्वेषां भूतानामुपर्य्यनुग्रहोऽपीडनं च भूतयज्ञः। सर्वमनुष्योपकारार्थं भ्रमणमभि-

मानशून्यता, सत्योपदेशकरणेन सर्वमनुष्याणां सत्कारानुष्ठानं चातिथियज्ञः । एवंलक्षणाः पञ्चमहायज्ञा विज्ञानधर्मानुष्ठानमया भवन्तीति विज्ञेयम् । परन्त्वेकस्याद्वितीयस्य सर्वशक्तिमदादिविशेषणयुक्तस्य परब्रह्मण उपासना, सत्यधर्मानुष्ठानं च सर्वेषामाश्रमिणामेकमेव भवतीत्ययं विशेषः ॥ (विशुद्धस०) शुद्धान्तःकरणो मनुष्यः (यं यं लोकं मनसा) ध्यानेन (संविभाति) इच्छति, (कामयते यांश्च कामान्) यांश्च मनोरथानिच्छति, तं तं लोकं, तांश्च कामान् (जायते) प्राप्नोति । तस्मात् कारणाद् (भूतिकामः) ऐश्वर्य्यकामो मनुष्यः, (आत्मज्ञं) आत्मानं परमेश्वरं जानाति तं संन्यासिनमेव सर्वदार्चयेत् सत्कुर्य्यात् । तस्यैव सङ्गेन सत्कारेण च मनुष्याणां सुखप्रदा लोकाः कामाश्च सिद्धा भवन्तीति । तद्भिन्नान् मिथ्योपदेशकान् स्वार्थसाधनतत्परान् पाखण्डिनः कोपि नैवार्चयेत् । कुतः । तेषां सत्कारस्य निष्फलत्वादुःखफलत्वाच्चेति ।

भाषार्थ

(प्राजापत्या०) अर्थात् इस इष्टि में शिखा सूत्रादि का होम कर के गृहस्थ आश्रम को छोड़ के विरक्त होकर संन्यास ग्रहण करें । (यं यं लोकं०) वह शुद्ध मन से जिस २ लोक और कामना की इच्छा करता है वे सब उस की सिद्ध हो जाती हैं । इसलिये जिस को ऐश्वर्य की इच्छा हो वह आत्मज्ञ अर्थात् ब्रह्मवेत्ता संन्यासी की सेवा करे । ये चारों आश्रम वेदों और युक्तियों से सिद्ध हैं । क्योंकि सब मनुष्यों को अपनी आयु का प्रथम भाग विद्या पढ़ने में व्यतीत करना चाहिये, और पूर्ण विद्या को पढ़ कर उससे संसार की उन्नति करने के लिये गृहाश्रम भी अवश्य करें, तथा विद्या और संसार के उपकार के लिये एकान्त में बैठकर सब जगत् का अधिष्ठाता जो ईश्वर है उस का ज्ञान अच्छी प्रकार करें, और मनुष्यों को सब व्यवहारों का उपदेश करें, फिर उनके सब सन्देहों का छेदन और सत्य बातों के निश्चय कराने के लिये संन्यास आश्रम भी अवश्य ग्रहण करें । क्योंकि इसके विना संपूर्ण पक्षपात छूटना बहुत कठिन है ।

इति वानप्रस्थविषयः संक्षेपतः

अथ पञ्चमहायज्ञविषयः संक्षेपतः

ये पञ्चमहायज्ञाः मनुष्यैर्नित्यं कर्त्तव्याः सन्ति तेषां विधानं संक्षेपतोऽत्र लिखामः। तत्र ब्रह्मयज्ञस्यायं प्रकारः। साङ्गानां वेदादिशास्त्राणां सम्यगध्ययनमध्यापनं सन्ध्योपासनं च सर्वैः कर्त्तव्यम्। तत्राध्ययनाध्यापनक्रमो यादृशः पठनपाठनविषय उक्तस्तादृशो ग्राह्यः। सन्ध्योपासनविधिश्च पञ्चमहायज्ञविधाने यादृश उक्तस्तादृशः कर्त्तव्यः। तथाग्निहोत्रविधिश्च यादृशस्तत्रोक्तस्तादृश एव कर्त्तव्यः। अत्र ब्रह्मयज्ञाग्निहोत्रप्रमाणं लिख्यते।

स॒मिधा॒ग्निं दु॑वस्यत घृ॒तैर्बो॑धय॒ताति॑थिम्। आस्मि॑न् ह॒व्या जु॑होतन॥ १॥ य० अ० ३। मं० १॥ अ॒ग्निं दू॒तं पु॒रो द॑धे हव्य॒वाह॒मुप॑ ब्रुवे। दे॒वाँ२॥ आ सा॑दयादि॒ह॥ २॥ य० अ० २२। मं० १७॥ सा॒यंसा॑यं गृ॒हप॑ति र्नो अ॒ग्निः प्रा॒तःप्रा॑तः सौमन॒सस्य॑ दा॒ता। वसो॑र्वसोर्वसु॒दान॑ एधि व॒यं त्वेन्धा॑नास्त॒न्वं॑ पुषेम॥ ३॥ प्रा॒तःप्रा॑तर्गृ॒हप॑तिर्नो अ॒ग्निः सा॒यंसा॑यं सौमन॒सस्य॑ दा॒ता। वसो॑र्वसोर्वसु॒दान॑ ए॒धीन्धा॑नास्त्वा श॒तंहि॑मा ऋधेम॥ ४॥ अथर्व० कां० १६। अनु० ७। सू० ५५। मं० ३। ४॥

भाष्यम्

(समिधाग्निं०) हे मनुष्याः! वाय्वोषधिवृष्टिजलशुद्ध्या परोपकाराय, (घृतैः) घृतादिभिश्शोधितैर्द्रव्यैः, समिधा चातिथिमग्निं यूयं बोधयत, नित्यं प्रदीपयत। (अस्मिन्) अग्नौ (हव्या) होतुमर्हाणि पुष्टिमधुरसुगन्धरोगनाशकारैर्गुणैर्युक्तानि सम्यक् शोधितानि द्रव्याणि (आ जुहोतन) आ समन्ताज्जुहुत। एवमग्निहोत्रं नित्यं (दुवस्यत) परिचरत। अनेन कर्मणा सर्वोपकारं कुरुत॥ १॥ (अग्निं दूतं०) अग्निहोत्रकर्त्तैवमिच्छेदहं वायौ मेघमण्डले च भूतद्रव्यस्य प्रापणार्थमग्निं दूतं भृत्यवत् (पुरो दधे) सम्मुखतः स्थापये कथम्भूतमग्निं? (हव्यवाहं) हव्यं द्रव्यं देशान्तरं वहति प्रापयतीति हव्यवाट्, तं (उपब्रुवे) अन्यान् जिज्ञासून्प्रत्युपदिशानि। (देवान्२॥) सोऽग्निरेतदग्निहोत्रकर्मणा देवान् दिव्यगुणान् वायुवृष्टिजलशुद्धिद्वारेहास्मिन् संसार आसादयादासमन्तात्प्रापयति। यद्वा हे परमेश्वर! (दूतं) सर्वेभ्यः सत्योपदेशकं (अग्निं)

अग्निसंज्ञकं त्वां (पुरो दधे) इष्टत्वेनोपास्यं मन्ये। तथा (हव्यवाहं) योग्यं शुभगुणमयं विज्ञानं हव्यं, तद् वहति प्रापयतीति तं त्वां (उपब्रुवे) उपदिशानि। स भवान् कृपया (इह) अस्मिन् संसारे (देवान्) दिव्यगुणान् (आसादयात्) आ समन्तात् प्रापयतु ॥ २ ॥ (नः) अस्माकमयं (अग्निः) भौतिकः परमेश्वरश्च (गृहपतिः) गृहात्मपालकः प्रातः सायं परिचरितः सूपासितश्च (सौमनस्य दाता) आरोग्यस्यानन्दस्य च दातास्ति। तथा (वसोर्व०) उत्तमोत्तमपदार्थस्य च दातास्ति। अत एव परमेश्वरः (वसुदानः) इति नाम्नाख्यायते। हे परमेश्वरैवं भूतस्त्वमस्माकं राज्यादिव्यवहारे हृदये च (एधि) प्राप्तो भव। तथा भौतिकोऽप्यग्निरत्र ग्राह्यः। (वयन्त्वे०) हे परमेश्वर ! एवं (त्वा) त्वामिन्धानाः प्रकाशमाना वयं (तन्वं) शरीरं (पुषेम) पुष्टं कुर्य्याम। तथाग्निहोत्रादिकर्मणा भौतिकमग्निमिन्धानाः प्रदीपयितारः सन्तः सर्वे वयं पुष्यामः ॥ ३ ॥ (प्रातः प्रातर्गृहपतिर्नो०) अस्यार्थः पूर्ववद्विज्ञेयः। अत्र विशेषस्त्वयम्। एवमग्निहोत्रमीश्वरोपासनं च कुर्वन्तः सन्तः, (शतहिमाः०) शतं हिमा हेमन्तर्त्तवो गच्छन्ति येषु संवत्सरेषु ते शतहिमा यावत्स्युस्तावत् (ऋधेम) वर्धेमहि। एवं कृतेन कर्मणा नोऽस्माकं कदाचिद्धानिर्न भवेदितीच्छामः ॥ ४ ॥ अग्निहोत्रकरणार्थं ताम्रस्य मृत्तिकाया वैकां वेदिं सम्पाद्य, काष्ठस्य रजतसुवर्णयोर्वा चमसमाज्यस्थालीं च संगृह्य तत्र वेद्यां पलाशाम्रादिसमिधः संस्थाप्याग्निं प्रज्वाल्य, तत्र पूर्वोक्तद्रव्यस्य प्रातःसायङ्कालयोः प्रातरेव वोक्तमन्त्रैर्नित्यं होमं कुर्य्यात्।

भाषार्थ

अब पञ्चमहायज्ञ अर्थात् जो कर्म मनुष्यों को नित्य करने चाहियें उनका विधान संक्षेप से लिखते हैं। उनमें से प्रथम एक ब्रह्मयज्ञ कहाता है, जिस में अङ्गों के सहित वेदादि शास्त्रों का पढ़ना पढ़ाना तथा सन्ध्योपासन अर्थात् प्रातःकाल और सायङ्काल में ईश्वर की स्तुति, प्रार्थना और उपासना सब मनुष्यों को करनी चाहिये। इन में पठन पाठन की व्यवस्था तो जैसी पठन पाठन विषय में विस्तारपूर्वक कह आये हैं वहां देख लेना। तथा सन्ध्योपासन और अग्निहोत्र का विधान जैसा पञ्चमहायज्ञविधि पुस्तक में लिख चुके हैं वैसा जान लेना। अब आगे ब्रह्मयज्ञ और अग्निहोत्र का प्रमाण लिखते हैं, (समिधाग्निं०) हे मनुष्यो ! तुम लोग वायु, ओषधि और वर्षाजल की शुद्धि से सब के उपकार के अर्थ घृतादि शुद्ध वस्तुओं

और समिधा अर्थात् आम्र वा ढाक आदि काष्ठों से अतिथिरूप अग्नि को नित्य प्रकाशमान करो। फिर उस अग्नि में होम करने के योग्य पुष्ट, मधुर, सुगन्धित अर्थात् दुग्ध घृत, शर्करा गुड़, केशर कस्तूरी आदि और रोगनाशक जो सोमलता आदि सब प्रकार से शुद्ध द्रव्य हैं उनका अच्छी प्रकार नित्य अग्निहोत्र करके सब का उपकार करो ॥ १ ॥ (अग्निं दूतं०) अग्निहोत्र करने वाला मनुष्य ऐसी इच्छा करे कि मैं प्राणियों के उपकार करने वाले पदार्थों को पवन और मेघमण्डल में पहुंचाने के लिये अग्नि को सेवक की नाईं अपने सामने स्थापन करता हूं। क्योंकि वह अग्नि हव्य अर्थात् होम करने के योग्य वस्तुओं को अन्य देश में पहुंचाने वाला है। इसी से उसका नाम हव्यवाट् है। जो उस अग्निहोत्र को जानना चाहैं उनको मैं उपदेश करता हूं कि वह अग्नि उस अग्निहोत्र कर्म्म में पवन और वर्षाजल की शुद्धि से (इह) इस संसार में (देवान्२॥०) श्रेष्ठ गुणों को पहुंचाता है। दूसरा अर्थ—हे सब प्राणियों को सत्य उपदेशकारक परमेश्वर ! जो कि आप अग्नि नाम से प्रसिद्ध हैं, मैं इच्छापूर्वक आप को उपासना करने के योग्य मानता हूं। ऐसी कृपा करो कि आप को जानने की इच्छा करने वालों के लिये भी मैं आप का शुभगुणयुक्त विशेषज्ञानदायक उपदेश करूं। तथा आप भी कृपा कर के इस संसार में श्रेष्ठ गुणों को पहुंचावें ॥ २ ॥ (सायं सायं०) प्रतिदिन प्रातःकाल श्रेष्ठ उपासना को प्राप्त यह गृहपति अर्थात् घर और आत्मा का रक्षक भौतिक अग्नि और परमेश्वर, (सौमनस्य दा०) आरोग्य, आनन्द और वसु अर्थात् धन का देने वाला है। इसीसे परमेश्वर (वसुदानः) अर्थात् धनदाता प्रसिद्ध है। हे परमेश्वर ! आप मेरे राज्य आदि व्यवहार और चित्त में सदा प्रकाशित रहो। यहां भौतिक अग्नि भी ग्रहण करने के योग्य है। (वयं त्वे०) हे परमेश्वर ! जैसे पूर्वोक्त प्रकार से हम आप का मान करते हुए अपने शरीर से (पुषेम) पुष्ट होते हैं वैसे ही भौतिक अग्नि को भी प्रज्वालित करते हुए पुष्ट हों ॥ ३ ॥ (प्रातः प्रातर्गृहपतिर्नो०) इस मंत्र का अर्थ पूर्व मन्त्र के तुल्य जानो। परन्तु इसमें इतना विशेष भी है कि अग्निहोत्र और ईश्वर की उपासना करते हुए हम लोग (शतहिमाः) सौ हेमन्त ऋतु व्यतीत हो जाने पर्य्यन्त अर्थात् सौ वर्ष तक धनादि पदार्थों से (ऋधेम) वृद्धि को प्राप्त हों ॥ ४ ॥ अग्निहोत्र करने के लिये, ताम्र वा मिट्टी की वेदी बना के काष्ठ, चांदी वा सोने का चमसा अर्थात् अग्नि में पदार्थ डालने का पात्र और आज्यस्थाली अर्थात् घृतादि पदार्थ रखने का पात्र लेके, उस वेदी में ढाक वा आम्र आदि वृक्षों की

समिधा स्थापन करके, अग्नि को प्रज्वलित करके, पूर्वोक्त पदार्थों का प्रातःकाल और सायङ्काल अथवा प्रातःकाल ही नित्य होम करें ।

अथाग्निहोत्रे होमकरणमन्त्राः

सूर्य्यो ज्योतिर्ज्योतिः सूर्य्यः स्वाहा । सूर्य्यो वर्च्चो ज्योतिर्वर्च्चः स्वाहा । ज्योतिः सूर्य्यः सूर्य्यो ज्योतिः स्वाहा ॥ सजूर्देवेन सवित्रा सजूरुषसेन्द्रवत्या । जुषाणः सूर्य्यो वेतु स्वाहा ॥ इति प्रातःकालमन्त्राः ॥ अग्निर्ज्योतिर्ज्योतिरग्निः स्वाहा ॥ अग्निर्वर्च्चो ज्योतिर्वर्च्चः स्वाहा ॥ अग्निर्ज्योतिरिति मन्त्रं मनसोच्चार्य्य तृतीयाहुतिर्देया ॥ सजूर्देवेन सवित्रा सजरात्र्येन्द्रवत्यः । जुषाणो अग्निर्वेतु स्वाहा ॥ य० अ० ३ । मं० ६ । १० ॥ इति सायङ्कालमन्त्राः ।

भाष्यम्

(सूर्य्यो०) यश्चराचरात्मा, ज्योतिषां प्रकाशकानां ज्योतिः प्रकाशकः, सूर्य्यः सर्वप्राणः परमेश्वरोस्ति तस्मै स्वाहाऽर्थात् तदाज्ञापालनेन सर्वजगदुपकारायैकाहुतिं दद्मः ॥ १ ॥ (सूर्य्यो व०) यो वर्च्चः सर्वविदां, ज्योतिषां ज्ञानवतां जीवानां, वर्च्चोऽन्तर्यामितया सत्योपदेष्टा, सर्वात्मा सूर्य्यः परमेश्वरोस्ति तस्मै० ॥ २ ॥ (ज्योतिः सू०) यः स्वयम्प्रकाशः सर्वजगत्प्रकाशकः सूर्य्यो जगदीश्वरोस्ति तस्मै० ॥ ३ ॥ (सजू०) यो देवेन द्योतकेन सवित्रा सूर्य्यलोकेन जीवेन च सह, तथा (इन्द्रवत्या) सूर्य्यप्रकाशवत्योपमाथवा जीववत्या मानसवृत्त्या (सजूः) सह वर्त्तमानः परमेश्वरोस्ति सः, (जुषाणः) सम्प्रीत्या वर्त्तमानः सन्, (सूर्य्यः) सर्वात्मा कृपाकटाक्षेणास्मान् वेतु विद्यादिसद्गुणेषु जातविज्ञानान् करोतु तस्मै० ॥ ४ ॥ इमा चतस्र आहुतीः प्रातरग्निहोत्रे कुर्वन्ति ॥ अथ सायंकालाहुतयः । (अग्निर्ज्योतिः०) यो ज्ञानस्वरूपो, ज्योतिषां ज्योतिरग्निः परमेश्वरोस्ति तस्मै० ॥ १ ॥ (अग्निर्वर्च्चो०) यः पूर्वोक्तोऽग्निः परमेश्वरोस्ति तस्मै० ॥ २ ॥ अग्निर्ज्योतिरित्यनेनैव तृतीयाहुतिर्देया, तदर्थश्च पूर्ववत् ॥ ३ ॥ (सजूर्दे०) यः पूर्वोक्तेन देवेन सवित्रा सह परमेश्वरः सजूरस्ति, यश्चेन्द्रवत्या वायुचन्द्र-

वत्या रात्र्या सह वर्त्तते सोग्निः, (जुषाणः) सम्प्रीतोऽस्मान् वेतु नित्यानन्दमोक्षसुखाय स्वकृपया कामयतु तस्मै जगदीश्वराय स्वाहेति पूर्ववत् ॥ ४ ॥ एताभिः सायंकालेग्निहोत्रिणो जुह्वति । एकस्मिन्काले सर्वाभिर्वा । (सर्वं वै०) हे जगदीश्वर ! यदिदमस्माभिः परोपकारार्थं कर्म क्रियते तद्भवत्कृपयाऽलं भवत्विति हेतोरेतत्कर्म तुभ्यं समर्प्यते । तथैतरेयब्राह्मणे पञ्चमपञ्चिकायामेकत्रिंशत्तमायां कण्डिकायां च सायम्प्रातरग्निहोत्रमन्त्रा भूर्भुवः स्वरोमित्यादयो दर्शिताः ।

भाषार्थ

(सूर्य्यो ज्यो०) जो चराचर का आत्मा प्रकाशस्वरूप और सूर्य्यादि प्रकाशक लोकों का भी प्रकाश करने वाला है उस की प्रसन्नता के लिये हम लोग होम करते हैं ॥ १ ॥ (सूर्यो वर्चो०) सूर्य जो परमेश्वर है वह हम लोगों को सब विद्याओं का देनेवाला और हम से उनका प्रचार करानेवाला है, उसी के अनुग्रह से हम लोग अग्निहोत्र करते हैं ॥ २ ॥ (ज्योतिः सू०) जो आप प्रकाशमान और जगत् का प्रकाश करनेवाला सूर्य अर्थात् संसार का ईश्वर है उस की प्रसन्नता के अर्थ हम लोग होम करते हैं ॥ ३ ॥ (सजूर्देवेन०) जो परमेश्वर सूर्य्यादि लोकों में व्याप्त, वायु और दिन के साथ संसार का परमहितकारक है वह हम लोगों को विदित होकर हमारे किये हुए होम को ग्रहण करे । इन चार आहुतियों से प्रातःकाल अग्निहोत्री लोग होम करते हैं ॥ ४ ॥ अब सायंकाल की आहुति के मन्त्र कहते हैं—(अग्निर्ज्यो०) । अग्नि जो ज्योतिःस्वरूप परमेश्वर है उसकी आज्ञा से हम लोग परोपकार के लिये होम करते हैं । और उसका रचा हुआ यह भौतिक अग्नि इसलिये है कि वह उन द्रव्यों को परमाणुरूप कर के वायु और वर्षाजल के साथ मिला के शुद्ध करदे । जिससे सब संसार को सुख और आरोग्यता की वृद्धि हो ॥ १ ॥ (अग्निर्वर्च्चो०) अग्नि परमेश्वर वर्च्च अर्थात् सब विद्याओं का देनेवाला और भौतिक अग्नि आरोग्यता और बुद्धि का बढ़ानेवाला है । इसलिये हम लोग होम से परमेश्वर की प्रार्थना करते हैं । यह दूसरी आहुति है । तीसरी मौन होके प्रथम मन्त्र से करनी । और चौथी (सजूर्देवेन०) जो अग्नि परमेश्वर सूर्यादि लोकों में व्याप्त, वायु और रात्रि के साथ संसार का परमहितकारक है वह हम को विदित होकर हमारे किये हुए होम का ग्रहण करे ।

अथोभयोः कालयोरग्निहोत्रे होमकरणार्थाः समानमन्त्राः । ओम्भूरग्नये प्राणाय स्वाहा ॥ १ ॥ ओम्भुवर्वायवेऽपानाय स्वाहा ॥ २ ॥ ओं स्वरादित्याय व्यानाय स्वाहा ॥ ३ ॥ ओम्भूर्भुवः स्वरग्निवाय्वादित्येभ्यः प्राणापानव्यानेभ्यः स्वाहा ॥ ४ ॥ ओमापो ज्योतीरसोमृतं ब्रह्म भूर्भुवः स्वरों स्वाहा ॥ ५ । ओं सर्वं वै पूर्णंस्वाहा ॥ ६ ॥ इति सर्वे मन्त्रास्तैत्तिरीयोपनिषदाशयेनैकीकृताः ।

भाष्यम्

एषु मन्त्रेषु भूरित्यादीनि सर्वाणीश्वरस्य नामान्येव वेद्यानि । एषामर्था गायत्र्यर्थे द्रष्टव्याः । अग्नये परमेश्वराय, जलवायुशुद्धिकरणाय च, होत्रं हवनं, दानं, यस्मिन् कर्मणि क्रियते तदग्निहोत्रम् । ईश्वराज्ञापालनार्थं वा । सुगन्धिपुष्टिमिष्टबुद्धिवृद्धिशौर्य्यधैर्य्यबलरोगनाशकैर्गुणैर्युक्तानां द्रव्याणां होमकरणेन, वायुवृष्टिजलयोः शुद्ध्या, पृथिवीस्थपदार्थानां सर्वेषां शुद्धवायुजलयोगात् सर्वेषां जीवानां परमसुखं भवत्येव । अतस्तत्कर्मकर्त्तॄणां जनानां तदुपकारेणात्यन्तसुखमीश्वरानुग्रहश्च भवत्येतदाद्यर्थमग्निहोत्रकरणम् ।

भाषार्थ

इन मन्त्रों में जो भूः इत्यादि नाम हैं वे सब ईश्वर के ही जानो । गायत्री मन्त्र के अर्थ में इन के अर्थ कर दिये हैं । इस प्रकार प्रातःकाल और सायङ्काल सन्ध्योपासन के पीछे उक्त मन्त्रों से होम कर के अधिक होम करने की इच्छा हो तो स्वाहा शब्द अन्त में पढ़ कर गायत्री मन्त्र से करे । जिस कर्म में अग्नि वा परमेश्वर के लिये, जल और पवन की शुद्धि वा ईश्वर की आज्ञापालन के अर्थ, होत्र हवन अर्थात् दान करते हैं उसे अग्निहोत्र कहते हैं । जो जो केशर, कस्तूरी आदि सुगन्धि, घृत दुग्ध आदि पुष्ट, गुड़ शर्करा आदि मिष्ट, बुद्धि बल तथा धैर्य्यवर्धक और रोगनाशक पदार्थ हैं उन का होम करने से पवन और वर्षाजल की शुद्धि से पृथिवी के सब पदार्थों की जो अत्यन्त उत्तमता होती है उसी से सब जीवों को परमसुख होता है । इस कारण अग्निहोत्र करने वाले मनुष्यों को उस उपकार से अत्यन्त सुख का लाभ होता है और ईश्वर उन पर अनुग्रह करता है । ऐसे २ लाभों के अर्थ अग्निहोत्र का करना अवश्य उचित है ।

---

१ शिक्षाध्याये पञ्चमोऽनुवाकः ।

अथ तृतीयः पितृयज्ञः

तस्य द्वौ भेदौ स्तः, एकस्तर्पणाख्यो, द्वितीयः श्राद्धाख्यश्च । तत्र येन कर्मणा विदुषो देवान्, ऋषीन्, पितॄंश्च तर्पयन्ति सुखयन्ति तत्तर्पणम् । तथा यत्तेषां श्रद्धया सेवनं क्रियते तच्छ्राद्धं वेदितव्यम् । तत्र विद्वत्सु विद्यमानेष्वेतत्कर्म संघट्यते नैव मृतकेषु । कुतः । तेषां प्राप्त्यभावेन सेवनाशक्यत्वात्, तदर्थकृतकर्मणः प्राप्त्यभाव इति व्यर्थतापत्तेश्च । तस्माद्विद्यमानाभिप्रायेणैतत्कर्मोपदिश्यते । सेव्यसेवकसन्निकर्षात्सर्वमेतत्कर्तुं शक्यत इति । तत्र सत्कर्त्तव्यास्त्रयः सन्ति । देवाः, ऋषयः पितरश्च । तत्र देवेषु प्रमाणम् ।

पुनन्तु॑ मा देवज॒नाः पु॒नन्तु॒ मन॑सा धियः॑ । पु॒नन्तु॒ विश्वा॑ भू॒तानि॒ जात॑वेदः पुनी॒हि मा॑ ॥ १ ॥ य० अ० १९ । मं० ३९ ॥ द्वयं वा इदं न तृतीयमस्ति । सत्यं चैवानृतं च, सत्यमेव देवा अनृतं मनुष्या, इदमहमनृतात्सत्यमुपैमीति तन्मनुष्येभ्यो देवानुपैति । स वै सत्यमेव वदेत् । एतद्ध वै देवा व्रतं चरन्ति यत्सत्यम् । तस्मात्ते यशो, यशो ह भवति य एवं विद्वान् सत्यं वदति ॥ श० कां० १ । अ० १ । ब्रा० १ । कं० ४, ५ ॥ विद्वाꣳसो हि देवाः ॥ श० कां० ३ । अ० ७ । ब्रा० ३ । कं० १० ॥ अथार्षिप्रमाणम् ॥ तं य॒ज्ञं ब॒र्हिषि॒ प्रौक्ष॒न्पुरु॑षं जा॒तम॑ग्र॒तः । तेन॑ दे॒वा अ॑यजन्त सा॒ध्या ऋष॑यश्च॒ ये ॥ २ ॥ य० अ० ३१ । मं० ९ ॥ अथ यदेवानुब्रुवीत । तेनर्षिभ्य ऋणं जायते तद्ध्येभ्य एतत् करोत्यृषीणां निधिगोप इति ह्यनूचानमाहुः ॥ श० कां० १ । अ० ७ । ब्रा० २ । कण्डिका ३ ॥ अथार्षेयं प्रवृणीते । ऋषिभ्यश्चैवैनमेतद्देवेभ्यश्च निवेदयत्ययं महावीर्य्यो यो यज्ञं प्रापदिति तस्मादार्षेयं प्रवृणीते ॥ श० कां० १ । अ० ४ । ब्रा० २ । कं० ३ ॥

भाष्यम्

(जातवेदः) हे परमेश्वर ! (मा) मां पुनीहि सर्वथा पवित्रं कुरु । भवन्निष्ठा, भवदाज्ञापालिनो (देवजनाः) विद्वांसः, श्रेष्ठा ज्ञानिनो, विद्यादानेन (मा) मां (पुनन्तु) पवित्रं कुर्वन्तु । तथा (पुनन्तु मन०) भवद्दत्तविज्ञानेन भवद्विषयकध्यानेन वाऽस्माकं बुद्धयः पुनन्तु पवित्रा भवन्तु । तथा

(पुनन्तु विश्वा भूतानि) विश्वानि सर्वाणि संसारस्थानि भूतानि पुनन्तु भवत्कृपया सुखानन्दयुक्तानि पवित्राणि भवन्तु ॥ (द्वयं वा०) मनुष्याणां द्वाभ्यां लक्षणाभ्यां द्वे एव संज्ञे भवतः । देवो मनुष्यश्चेति । तत्र (सत्यं चैवानृतं च) कारणे स्तः । (सत्यमेव०) यत्सत्यवचनं, सत्यमानं, सत्यकर्म तदेव देवा आश्रयन्ति । तथैवानृतवचनमनृतमानमनृतं कर्म चेति मनुष्याश्चेति । अतएव योऽनृतं त्यक्त्वा सत्यमुपैति स देवः परिगण्यते । यश्च सत्यं त्यक्त्वाऽनृतमुपैति स मनुष्यश्च । अतः सत्यमेव सर्वदा वदेन्मन्येत कुर्य्याच्च । यः सत्यव्रतो देवोस्ति स एव यशस्विनां मध्ये यशस्वी भवति, तद्विपरीतो मनुष्यश्च । तस्मादत्र विद्वांस एव देवाः सन्ति ॥ तं यज्ञमिति सृष्टिविद्याविषये व्याख्यातः । (अथ यद्देवा०) अथेत्यनन्तरं सर्वविद्यां पठित्वा यदनुवचनमध्यापनकर्मानुष्ठानमस्ति तदृषिकृत्यं विज्ञायते । तेनाध्ययनाध्यपनकर्मणर्षयः सेवनीया जायन्ते । यत्तेषां प्रियमाचरन्ति तदेतत्तेभ्यः सेवाकर्तृभ्य एव सुखकारी भवति । यः सर्वविद्याविद्भूत्वाऽध्यापयति तमेवानूचानमृषिमाहुः । (अथार्षेयं प्रवृ०) यो मनुष्यः पाठनं कर्म प्रवृणीते तदार्षेयं कर्म कथ्यते । य ऋषिभ्यो देवेभ्यो विद्यार्थिभ्यश्च प्रियं वस्तु निवेदयित्वा नित्यं विद्यामधीते, स विद्वान् महावीर्य्यो भूत्वा, यज्ञं विज्ञानाख्यं (प्रापत्) प्राप्नोति । तस्मादिदमार्षेयं कर्म सर्वैर्मनुष्यैः स्वीकार्य्यम् ।

भावार्थ

अब तीसरा पितृयज्ञ कहते हैं । उसके दो भेद हैं । एक तर्पण और दूसरा श्राद्ध । उन में से जिस कर्म करके विद्वान् रूप देव, ऋषि और पितरों को सुखयुक्त करते हैं सो तर्पण कहाता है । तथा जो उन लोगों की श्रद्धापूर्वक सेवा करना है उसी को श्राद्ध जानना चाहिये । यह तर्पण आदि कर्म विद्यमान अर्थात् जीते हुए जो प्रत्यक्ष हैं उन्हीं में घटता है मरे हुओं में नहीं । क्योंकि मृतकों का प्रत्यक्ष होना असम्भव है । इसलिये उनकी सेवा नहीं होसकती । तथा जो उनके लिये कोई पदार्थ दिया चाहे वह भी उन को नहीं मिल सकता । इससे केवल विद्यमानों की ही श्रद्धापूर्वक सेवा करने का नाम तर्पण और श्राद्ध वेदों में कहा है क्योंकि सेवा करने योग्य और सेवा करने वाले इन दोनों ही के प्रत्यक्ष होने से यह सब काम हो सकता हैं दूसरे प्रकार से नहीं । सो तर्पण आदि कर्म से सत्कार करने योग्य तीन हैं देव, ऋषि और पितर । देवों में प्रमाण (पुनन्तु०) । हे जातवेद परमेश्वर ! आप सब प्रकार

से मुझे पवित्र कीजिये और जो आपके उपासक आपकी आज्ञा पालते हैं अथवा जो कि विद्वान् ज्ञानी पुरुष कहाते हैं वे मुझ को विद्यादान से पवित्र करें और आप के दिये विशेष ज्ञान वा आप के विषय के ध्यान से हमारी बुद्धियां पवित्र हों। तथा (पुनन्तु विश्वा भूतानि) सब संसारी जीव आपकी कृपा से पवित्र होकर आनन्द में रहें। (द्वयं वा०) दो लक्षणों के पाये जाने से मनुष्यों की दो संज्ञा होती हैं। अर्थात् एक देव और दूसरी मनुष्य। उन में भेद होने के सत्य और झूठ दो कारण हैं। (सत्यमेव) जो कोई सत्यभाषण, सत्यस्वीकार और सत्यकर्म करते हैं वे देव तथा जो झूठ बोलते, झूठ मानते और झूठ कर्म करते हैं वे मनुष्य कहाते हैं। इसलिये झूठ को छोड़कर सत्य को प्राप्त होना सब को उचित है। इस कारण से बुद्धिमान् लोग निरन्तर सत्य ही कहें, मानें और करें। क्योंकि सत्यव्रत आचरण करनेवाले जो देव हैं वे तो कीर्त्तिमानों में भी कीर्त्तिमान् होके सदा आनन्द में रहते हैं। परन्तु उनसे विपरीत चलनेवाले मनुष्य दुःख को प्राप्त होकर सब दिन पीड़ित ही रहते हैं। इससे सत्यधारी विद्वान् ही देव कहाते हैं। (तं यज्ञं) इस मन्त्र का व्याख्यान सृष्टिविद्या विषय में कर दिया है। (अथ यदेवा०) जो सब विद्याओं को पढ़ के औरों को पढ़ाना है यह ऋषिकर्म कहाता है। और उससे जितना कि मनुष्यों पर ऋषियों का ऋण हो उस सब की निवृत्ति उन की सेवा करने से होती है। इस से जो नित्य विद्यादान, ग्रहण और सेवाकर्म करना है वही परस्पर आनन्दकारक है और यही व्यवहार (निधिगोप०) अर्थात् विद्याकोष का रक्षक है। (अथार्षेयं प्रवृ०) विद्या पढ़ के सबों को पढ़ानेवाले ऋषियों और देवों की प्रिय पदार्थों से सेवा करने वाला विद्वान् बहु पराक्रमयुक्त होकर विशेष ज्ञान को प्राप्त होता है। इससे आर्षेय अर्थात् ऋषिकर्म को सब मनुष्य स्वीकार करें॥

अथ पितृषु प्रमाणम्

ऊर्जं वहन्तीरमृतं घृतं पयः कीलालं परिस्रुतम्। स्वधास्थ तर्पयत मे पितॄन्॥ १॥ यजु० अ० २। मं० ३४॥ आयन्तु नः पितरः सोम्यासोऽग्निष्वात्ताः पथिभिर्देवयानैः। अस्मिन् यज्ञे स्वधया मदन्तोऽधिब्रुवन्तु तेऽवन्त्वस्मान्॥ २॥ य० अ० १९। मं० ५८॥

भाष्यम्

(ऊर्जं वहन्ती०) सर्वे मनुष्याः सर्वान् प्रत्येवं जानीयुश्चाज्ञापयेयुः (मे

पितॄन्) मम पितृपितामहादीनाचार्य्यादींश्च सर्वे यूयं तर्पयत, सेवया प्रसन्नान् कुरुतेति । तथा (स्वधास्थ) सत्यविद्याभक्तिस्वपदार्थधारिणो भवत । केन केन पदार्थेन ते सेवनीयास्तानाह (ऊर्जं०) पराक्रमं प्रापिकाः सुगन्धिताः प्रिया हृद्या अपः, (अमृतं) अमृतात्मकमनेकविधं रसं, (घृतं) आज्यं, (पयः) दुग्धं, (कीलालं) संस्कारैः सम्पादितमनेकविधमन्नं, (परिस्रुतम्) माक्षिकं मधु कालपक्वं फलादिकं च निवेद्य पितॄन् प्रसन्नान् कुर्य्यात् ॥ १ ॥ ये (सोम्यासः) सोमगुणाः शान्ताः, सोमवल्ल्यादिरसनिष्पादने चतुराः (अग्निष्वात्ताः) अग्निः परमेश्वरोऽभ्युदयाय सुष्ठुतयाऽऽत्तो गृहीतो यैस्तेऽग्निष्वात्ताः, तथा होमकरणार्थं, शिल्पविद्यासिद्धये च भौतिकोग्निरात्तो गृहीतो यैस्ते पितरो विज्ञानवन्तः पालकाः सन्ति (आयन्तु नः) ते अस्मत्समीपमागच्छन्तु । वयं च तत्सामीप्यं नित्यं गच्छेम । (पथिभिर्देव०)तान् विद्वन्मार्गैर्दृष्टिपथमागतान् दृष्ट्वाऽभ्युत्थाय, हे पितरो ! भवन्त आयन्त्वित्युक्त्वा, प्रीत्याऽऽसनादिकं निवेद्य, नित्यं सत्कुर्य्याम । (अस्मिन्०) हे पितरोऽस्मिन् सत्काररूपे यज्ञे (स्वधया) अमृतरूपया सेवया (मदन्तो) हर्षन्तोऽस्मान् रक्षितारः सन्तः सत्यविद्यामधिब्रुवन्तूपदिशन्तु ॥ २ ॥

भाषार्थ

(ऊर्ज्जं वह०) पिता वा स्वामी अपने पुत्र, पौत्र, स्त्री और नौकरों को इस प्रकार आज्ञा देवें कि (तर्पयत मे०) जो २ हमारे मान्य पिता पितामहादि माता मातामहादि और आचार्य तथा इन से भिन्न भी विद्वान् लोग जो अवस्था वा ज्ञान में बड़े और मान्य करने योग्य हैं तुम लोग उनकी (ऊर्जं०)उत्तम २ जल (अमृतं) रोग नाश करने वाले उत्तम अन्न (परिस्रुतं) सब प्रकार के उत्तम फलों के रस आदि पदार्थों से नित्य सेवा किया करो कि जिससे वे प्रसन्न होके तुम लोगों को सदा विद्या देते रहें । क्योंकि ऐसा करने से तुम लोग भी सदा प्रसन्न रहोगे । (स्वधास्थ०) और ऐसा विनय सदा रक्खो कि हे पूर्वोक्त पितर लोगो ! आप हमारे अमृतरूप पदार्थों के भोगों से तृप्त हूजिये और हम लोग जो २ पदार्थ आप लोगों की इच्छा के अनुकूल निवेदन कर सकें उन २ की आज्ञा किया कीजिये । हम लोग मन, वचन और कर्म से आप के सुख करने में स्थित हैं आप किसी प्रकार का दुःख न पाइये । क्योंकि जैसे आप लोगों ने बाल्यावस्था और ब्रह्मचर्य्याश्रम में हम लोगों को सुख दिया है वैसे ही हम को भी आप लोगों का प्रत्युपकार करना अवश्य

चाहिये कि जिससे हम लोगों को कृतघ्नता दोष न प्राप्त हो ॥ १ ॥ (आयन्तु नः) पितृ शब्द से सब के रक्षक श्रेष्ठस्वभाव वाले ज्ञानियों का ग्रहण होता है । क्योंकि जैसी रक्षा मनुष्यों की सुशिक्षा और विद्या से हो सकती है वैसी किसी दूसरे प्रकार से नहीं । इसलिये जो विद्वान् लोग मनुष्यों को ज्ञानचक्षु देकर उन के अविद्यारूपी अन्धकार के नाश करने वाले हैं उन को पितर कहते हैं । उन के सत्कार के लिये मनुष्यमात्र को ईश्वर की यह आज्ञा है कि वे उन आते हुए पितर लोगों को देखकर अभ्युत्त्थान अर्थात् उठ के प्रीतिपूर्वक कहें कि आइये बैठिये कुछ जलपान कीजिये और खाने पीने की आज्ञा दीजिये । पश्चात् जो २ बातें उपदेश करने के योग्य हैं सो २ प्रीतिपूर्वक समझाइये कि जिससे हम लोग भी सत्यविद्यायुक्त होके सब मनुष्यों के पितर कहावें और सदा ऐसी प्रार्थना करें कि हे परमेश्वर ! आप के अनुग्रह से (सोम्यासः) जो शीलस्वभाव और सब को सुख देने वाले विद्वान् लोग, (अग्निष्वात्ताः) अग्नि नाम परमेश्वर और रूप गुण वाले भौतिक अग्नि की अलग २ करने वाली विद्युतूरूप विद्या को यथावत् जाननेवाले हैं वे इस विद्या और सेवायज्ञ में (स्वधया मदन्तः) अपनी शिक्षा विद्या के दान और प्रकाश से अत्यन्त हर्षित होके (अवन्त्वस्मान्) हमारी सदा रक्षा करें । तथा उन विद्यार्थियों और सेवकों के लिये भी ईश्वर की आज्ञा है कि जब २ वे आवें वा जावें तब २ उन को उत्त्थान नमस्कार और प्रियवचन आदि से सन्तुष्ट रक्खें । तथा फिर वे लोग भी अपने सत्यभाषण से निर्वैरता और अनुग्रह आदि सद्गुणों से युक्त होकर अन्य मनुष्यों को उसी मार्ग में चलावें और आप भी दृढ़ता के साथ उसी में चलें । ऐसे सब लोग छल और लोभादि रहित होकर परोपकार के अर्थ अपना सत्यव्यवहार रक्खें । (पथिभिर्देवयानैः) उक्त भेद से विद्वानों के दो मार्ग होते हैं एक देवयान और दूसरा पितृयान । अर्थात् जो विद्यामार्ग है वह देवयान और जो कर्मोपासना मार्ग है वह पितृयान कहाता है । सब लोग इन दोनों प्रकार के पुरुषार्थ को सदा करते रहें ।

अत्र॑ पितरो मादयध्वं यथाभागमावृ॑षायध्वम् । अमीमदन्त पि॒तरो॑ यथाभा॒गमावृ॑षायिषत ॥ ३ ॥ नमो॑ वः पितरो॒ रसा॑य॒ नमो॑ वः पितरः॒ शोषा॑य॒ नमो॑ वः पितरो॒ जीवा॑य॒ नमो॑ वः पितरः स्व॒धायै॑ । नमो॑ वः पितरो॒ घोरा॑य॒ नमो॑ वः पितरो॒ म॒न्यवे॒ नमो॑ वः पितरः॒ पित॑रो

नमो॑ वः । गृ॒हान्नः॑ पितरो दत्त स॒तो वः॑ पितरो दे॒ष्मै तद्वः॑ पितरो॒ वास॒ः ॥ ४ ॥ आध॑त्त पितरो॒ गर्भं॑ कुमा॒रं पुष्क॑रस्रजम् । यथे॒ह पुरु॒षोऽस॑त् ॥ ५ ॥ य० अ० २ । मं० ३१ । ३२ । ३३ ॥

भाष्यम्

(अत्र पितरो०) हे पितरोऽत्रास्यां सभायां पाठशालायां वाऽस्मान् विद्याविज्ञानदानेनानन्दयुक्तान् कुरुत । (यथाभाग०) भजनीयं स्वं स्वं विद्यारूपं भागं (आवृषायध्वं) विद्वद्वत्स्वीकृत्य (अमीमदन्त) अस्मिन् सत्योपदेशे विद्यादानकर्माणि हर्षेण सदोत्साहवन्तो भवत । (यथाभागमा०) तथा यथायोग्यं सत्कारं प्राप्य श्रेष्ठाचारेण प्रसन्नाः सन्तो विचरत ॥ ३ ॥ (नमो वः) हे पितरः ! रसाय सोमलतादिरसविज्ञानानन्दग्रहणाय, (नमो वः पितरः) शोषायाग्निवायुविद्याप्राप्तये, (नमो वः पितरो जी०) जीवनार्थं विद्याजीविकाप्राप्तये, (नमो वः पितरः स्व०) मोक्षविद्याप्राप्तये, (नमो वः०) आपत्कालनिवारणाय, (नमो वः०) दुष्टानामुपरि क्रोधधारणाय, क्रोधस्य निवारणाय च, (नमो वः पितरः०) सर्वविद्याप्राप्तये च युष्मभ्यं वारं वारं नमोस्तु । (गृहान्नः) हे पितरो ! गृहान् गृहसम्बन्धिव्यवहारबोधान्नोऽस्मभ्यं यूयं दत्त । (सतो वः०) हे पितरो! येऽस्माकमधिकारे विद्यमानाः पदार्थाः सन्ति तान् वयं वो युष्मभ्यं (देष्मः) दद्मो यतो वयं कदाचिद्भवद्भ्यो विद्यां प्राप्य क्षीणा न भवेम । (एतद्वः पितरः) हे पितरोऽस्माभिर्यद्वासो वस्त्रादिकं वस्तु युष्मभ्यं दीयते एतद्यूयं प्रीत्या गृह्णीत ॥ ४ ॥ (आधत्त पितरो०) हे पितरो ! यूयं मनुष्येषु विद्यागर्भमाधत्त धारयत । तथा विद्यादानार्थं (पुष्करस्रजं) पुष्पमालाधारिणं कुमारं ब्रह्मचारिणं यूयं धारयत । (यथेह०) येन प्रकारेणेहास्मिन् संसारे विद्यासुशिक्षायुक्तः पुरुषोऽसत्स्यात् । येन च मनुष्येषूत्तमविद्योन्नतिर्भवेत्तथैव प्रयतध्वम् ॥ ५ ॥

भाषार्थ

(अत्र पितरो मा०) हे पितर लोगो ! आप यहां हमारे स्थान में आनन्द कीजिये । (यथाभागमावृ०) अपनी इच्छा के अनुकूल भोजन वस्त्रादि भोग से आनन्दित हूजिये । (अमीमदन्त पितरः०) आप यहां विद्या के प्रचार से सब को आनन्दयुक्त कीजिये । (यथाभागमा०) हम लोगों से यथायोग्य सत्कार को प्राप्त होकर अपनी प्रसन्नता के प्रकाश से हम को भी आनन्दित कीजिये ॥ ३ ॥

(नमो वः) हे पितर लोगो ! हम लोग आप को नमस्कार करते हैं इसलिये कि आप के द्वारा हम को रस अर्थात् विद्यानन्द, ओषधि और जल विद्या का यथावत् ज्ञान हो। तथा (नमो वः०) शोष अर्थात् अग्नि और वायु की विद्या कि जिससे ओषधि और जल सूख जाते हैं उस के बोध होने के लिये भी हम आप को नमस्कार करते हैं। (नमो वः०) हे पितर लोगो ! आप की सत्य-शिक्षा से हम लोग प्रमादरहित और जितेन्द्रिय होके पूर्ण उम्र को भोगें। इस-लिये हम आप को नमस्कार करते हैं। (नमो वः०) हे विद्वान लोगो ! अमृ-तरूप मोक्ष विद्या की प्राप्ति के लिये हम आप को नमस्कार करते हैं। (नमो वः०) हे पितरो ! घोर विपत् अर्थात् आपत्काल में निर्वाह करने की विद्याओं को जानने की इच्छा से दुःखों के पार उतरने के लिये हम लोग आप की सेवा करते हैं। (नमो वः०) हे पितरो ! दुष्ट जीव और दुष्ट कर्मों पर नित्य अप्रीति करने की विद्या सीखने के लिये हम आप को नमस्कार करते हैं। (नमो वः०) हम आप लोगों को वारंवार नमस्कार इसलिये करते हैं कि गृहाश्रम आदि करने के लिये जो २ विद्या अवश्य हैं सो २ सब आप लोग हम को देवें। (सतो वः०) हे पितर लोगो ! आप सब गुणों और सब संसारी सुखों के देने वाले हैं इसलिये हम लोग आप को उत्तम २ पदार्थ देते हैं इन को आप प्रीति से लीजिये। तथा प्रतिष्ठा के लिये उत्तम २ वस्त्र भी देते हैं इन को आप धारण कीजिये और प्रसन्न होके सब सुख के अर्थ संसार में सत्यविद्या का प्रचार कीजिये ॥ ४ ॥ (आधत्त पितरो०) हे विद्या के देने वाले पितर लोगो ! इस कुमार ब्रह्मचारी को गर्भ के समान रक्षा कर के उत्तम विद्या दीजिये कि जिस से वह विद्वान् हो के (पुष्करस्र०) जैसे पुष्पों की माला धारण कर के मनुष्य शोभा को प्राप्त होता है वैसे ही यह भी विद्या पाकर सुन्दरतायुक्त होवे। (यथेह पुरुषोऽसत्) अर्थात् जिस प्रकार इस संसार में मनुष्यों की विद्यादि सद्गुणों से उत्तम कीर्त्ति और सब मनुष्यों को सुख प्राप्त हो सके वैसा ही प्रयत्न आप लोग सदा कीजिये। यह ईश्वर की आज्ञा विद्वानों के प्रति है। इसलिये सब मनुष्यों को उचित है कि इस का पालन सदा करते रहें ॥ ५ ॥

ये समानाः समनसो जीवा जीवेषु मामकाः। तेषां श्रीर्मयि कल्पतामस्मिँल्लोके शतꣳसमाः ॥ ६ ॥ य० अ० १९। मं० ४६ ॥ उदीरतामवर उत्परास उन्मध्यमाः पितरः सोम्यासः। असुं य ईयुर-

वृका ऋतज्ञास्ते नोऽवन्तु पितरो हवेषु ॥ ७ ॥ अङ्गिरसो नः पितरो नवग्वा अथर्वाणो भृगवः सोम्यासः । तेषां वयथं सुमतौ यज्ञियानामपि भद्रे सौमनसे स्याम ॥ ८ ॥ य० अ० १६ । मं० ४६ । ५० ॥ ये समानाः समनसः पितरो यमराज्ये । तेषां लोकः स्वधा नमो यज्ञो देवेषु कल्पताम् ॥ ६ ॥ य० अ० १९ । मं० ४५ ॥

भाष्यम्

(ये समानाः) ये मामका मदीया आचार्य्यादयः (जीवाः) विद्यमानजीवनाः, (समनसः) धर्मेश्वरसर्वमनुष्यहितकरणैकनिष्ठाः, (समानाः) धर्मेश्वरसत्याविद्यादिशुभगुणेषु समानत्वेन वर्त्तमानाः (जीवेषु) उपदेश्येषु शिष्येषु सत्यविद्यादानाय छलादिदोषराहित्येन वर्त्तमाना विद्वांसः सन्ति, (तेषां०) विदुषां या श्रीः सत्यविद्यादिगुणाढ्या शोभास्ति, (अस्मिँल्लोके शतं०) सामयिकी लक्ष्मीः शतवर्षपर्य्यन्तं (कल्पतां) स्थिरा भवतु, यतो वयं नित्यं सुखिनः स्याम ॥ ६ ॥ (उदीरतामवरे०) ये पितरोऽवकृष्टगुणाः, (उत्परासः) उत्कृष्टगुणाः, (उन्मध्यमाः) मध्यस्थगुणाः, (सोम्यासः) सोम्यगुणाः, (अवृकाः) अजातशत्रवः, (ऋतज्ञाः) ब्रह्मविदो वेदविदश्च, ते ज्ञानिनः पितरो, हवेषु देयग्राह्यव्यवहारेषु, विज्ञानदानेन (नोऽवन्तु) अस्मान् सदा रक्षन्तु । तथा (असुं य ईयुः) येऽसुं प्राणमीयुः प्राप्नुयुरर्थाद् द्वाभ्यां जन्मभ्यां विद्वांसो भूत्वा विद्यमानजीवनास्स्युस्त एव सर्वैः सेवनीया, नव मृताश्चेति । कुतः । तेषां देशान्तरप्राप्त्या सान्निकर्षाभावात्ते सेवाग्रहणेऽसमर्थाः सेवितुमशक्याश्च ॥ ७ ॥ (अङ्गिरसो नः) येऽङ्गेषु रसभूतस्य प्राणाख्यस्य परमेश्वरस्य ज्ञातारः, (नवग्वाः) सर्वासु विद्यासूत्तमकर्मसु च नवीना गतयो येषां ते, (अथर्वाणः) अथर्ववेदविदो धनुर्वेदविदश्च, (भृगवः) परिपक्वज्ञानाः शुद्धाः, (सोम्यासः) शान्ताः सन्ति, (तेषां वयथं सुमतौ) वयं तेषां यज्ञानां (यज्ञियानां ?) यज्ञादिसत्कर्मसु कुशलानाम्, अपीति निश्चयेन, सुमतौ विद्यादिशुभगुणग्रहणे, (भद्रे) कल्याणकरे व्यवहारे, (सौमनसे) यत्र विद्यानन्दयुक्तं मनो भवति तस्मिन्, (स्याम) अर्थाद्भवतां सकाशादुपदेशं गृहीत्वा धर्मार्थकाममोक्षप्राप्ता भवेम ॥ ८ ॥ (ये समानाः) (समनसः) अनयोरर्थ उक्तः, ये (यमराज्ये) राजसभायां न्यायाधीशत्वेनाधिकृताः (पितरः) विद्वांसः सन्ति, (तेषां लोकः) यो न्यायदर्शनं स्वधा अमृता-

त्मको लोको भवतीति, (यज्ञो०) यश्च प्रजापालनाख्यो राजधर्मव्यवहारो देवेषु विद्वत्सु प्रसिद्धोऽस्ति, सोऽस्माकं मध्ये (कल्पतां) समर्थतां, प्रसिद्धो भवतु । य एवं सत्यन्यायकारिणः सन्ति तेभ्यो (नमः) नमोस्तु । अर्थाद्ये सत्यन्यायाधीशास्ते सदैवास्माकं मध्ये तिष्ठन्तु ॥ ६ ॥

भाषार्थ

(ये समानाः) जो आचार्य्य (जीवाः) जीते हुए, (समनसः) धर्म ईश्वर और सर्वहित करने में उद्यत, (समानाः) सत्यविद्यादि शुभगुणों के प्रचार में ठीक २ विचार और (जीवेषु) उपदेश करने योग्य शिष्यों में सर्व विद्यादान के लिये छल-कपटादिदोषरहित होकर प्रीति करनेवाले विद्वान् हैं (तेषां) उन की जो श्री अर्थात् सत्यविद्यादिश्रेष्ठगुणयुक्त शोभा और राजलक्ष्मी है सो मेरे लिये (अस्मिंल्लोके शतं समाः) इस लोक में १०० (सौ) वर्ष पर्य्यन्त स्थिर रहे, जिस से हम लोग नित्य सुखसंयुक्त होके पुरुषार्थ करते रहें ॥ ६ ॥ (उदीरताम०) जो विद्वान् लोग (अवरे) कनिष्ठ, (उन्मध्यमाः) मध्यम और (उत्परासः) उत्तम, (पितरः सोम्यासः) चन्द्रमा के समान सब प्रजाओं को आनन्द करानेवाले, (असुं य ईयुः) प्राणविद्यानिधान (अवृकाः) शत्रुरहित अर्थात् सब के प्रिय पक्षपात छोड़ के सत्यमार्ग में चलनेवाले, तथा (ऋतज्ञाः) जो कि ऋत अर्थात् ब्रह्म, यथार्थ धर्म और सत्य विद्या के जानने वाले हैं (ते नोऽवन्तु पितरो हवेषु) वे पितर लोग युद्धादि व्यवहारों में हमारे साथ होके अथवा उन की विद्या देके हमारी रक्षा करें ॥ ७ ॥ (अङ्गिरसो नः) जो ब्रह्माण्डभर के पृथिव्यादि सब अङ्गों की मर्मविद्या के जाननेवाले, (नवग्वाः) नवीन २ विद्याओं के ग्रहण करने और करानेवाले, (अथर्वाणः) अथर्ववेद और धनुर्वेदविद्या में चतुर तथा दुष्ट शत्रु और दोषों के निवारण करने में प्रवीण, (भृगवः) परिपक्वज्ञानी और तेजस्वी, (सोम्यासः) जो परमेश्वर की उपासना और अपनी विद्या के गुणों में शान्तस्वरूप, (तेषां वयꣳ सुमतौ०) तथा यज्ञ के जानने और करनेवाले (पितरः) पितर हैं तथा जिस कल्याणकारक विद्या से उन की सुमति, (भद्रे) कल्याण और (सौमनसे) मन की शुद्धि होती है उसमें (अपिस्याम) हम लोग भी स्थिर हों कि जिसके बोध से व्यवहार और परमार्थ के सुखों को प्राप्त हो के सदा आनन्दित रहें ॥ ८ ॥ (ये समा०) जो पितर अर्थात् विद्वान् लोग यमराज्य अर्थात् परमेश्वर के इस राज्य में सभासद् वा न्यायाधीश हो के न्याय करने

वाले और (समनसः पितरः) सब सृष्टि के हित करने में समानबुद्धि हैं, (तेषां लोकः स्वधा०) जिन का लोक अर्थात् देश सत्यन्याय को प्राप्त हो के सुखी रहता है (नमः) उन को हम लोग नमस्कार करते हैं। क्योंकि वे पक्षपातरहित होके सत्य व्यवस्था में चल के अपने दृष्टान्त से औरों को भी उसी मार्ग में चलाने वाले हैं। (यज्ञो देवेषु कल्पतां) यह सत्यधर्मसम्बन्धी प्रजापालनरूप जो अश्वमेध यज्ञ है सो परमात्मा की कृपा से विद्वानों के बीच में सत्य व्यवस्था की उन्नति के लिये सदा समर्थ अर्थात् प्रकाशमान बना रहे।

ये नः पूर्वे पितरः सोम्यासोऽनूहिरे सोमपीथं वसिष्ठाः। तेभिर्यमः सꣳरराणो हवीꣳष्युशन्नुशद्भिः प्रतिकाममत्तु ॥ १० ॥ बर्हिषदः पितर ऊत्यर्वागिमा वो हव्या चकृमा जुषध्वम्। त आगतावसा शन्तमेनाथा नः शंयोररपो दधात ॥ ११ ॥ आहं पितॄन्त्सुविदत्राँ२॥ अवित्सि नपातं च विक्रमणं च विष्णोः। बर्हिषदो ये स्वधया सुतस्य भजन्त पित्वस्त इहागमिष्ठाः ॥ १२ ॥ य० अ० १९। मं० ५१। ५५। ५६ ॥

भाष्यम्

(ये) (सोम्यासः) सोमविद्यासम्पादिनः, (वसिष्ठाः) सर्वविद्याद्युत्तमगुणेष्वतिशयेन रममाणाः। (सोमपीथं) सोमविद्यारक्षणं (अनूहिरे), पूर्वं सर्वा विद्याः पठित्वाऽध्याप्य तांस्ता अनुप्रापयन्ति, ते (नः पूर्वे पितरः) येऽस्माकं पूर्वे पितरः सन्ति, (तेभिः) तैः (उशद्भिः) परमेश्वरं धर्मं च कामयमानैः पितृभिः सह, समागमेनैव, (सꣳरराणः) सत्यविद्यायाः सम्यग्दानकर्त्ता (यमः) सत्यविद्याव्यवस्थापकः परमेश्वरो विदितो भवति। किं कुर्वन्? (हवीꣳषि०) विज्ञानादीन्युशन् सर्वेभ्यो दातुं कामयन् सन्। अतः सर्वो जन एवमाचरन् सन् (प्रतिकाममत्तु) सर्वान् कामान्प्राप्नोतु ॥ १० ॥ (बर्हिषदः) ये बर्हिषि सर्वोत्तमे ब्रह्मणि विद्यायां च निषण्णास्ते (पितरः) विद्वांसः, (अवसा शन्तमेन) अतिशयेन कल्याणरूपेण रक्षणेन सह वर्त्तमानाः, (आगत) अस्माकं समीपमागच्छन्तु। आगतान् तान्प्रत्येवं वयं ब्रूमहे। हे विद्वांसः! यूयमागत्य (अर्वाक्) पश्चात् (इमा) इमानि हव्यानि ग्राह्यदेयानि वस्तूनि (जुषध्वं) सम्प्रीत्या सेवध्वम्। हे पितरः! वयं (ऊत्या) भवद्रक्षणेन वो युष्माकं सेवां (चकृम) नित्यं

कुर्य्याम । (अथा नः शं०) अथेति सेवाप्राप्तेरनन्तरं, यूयं नोऽस्माकं शंयोर्विज्ञान-रूपं सुखं दधात । किन्त्वविद्यारूपं पापं दूरीकृत्य (अरपः) निष्पापतां दधात । येन वयमपि निष्पापा भवेमेति ॥ ११ ॥ (आहं पितॄन्त्सुविदत्रां०) ये बर्हिषदः, स्वधयाऽन्नेन सुतस्य सोमवल्यादिभ्यो निष्पादितस्य रसस्य प्राशनं (भजन्ते) सेवन्ते, (पित्वः) तत्पानं कृत्वा (त इहाग०) अस्मिन्नस्मत्सन्निहितदेशे ते पितर आगच्छन्तु । य ईदृशाः पितरः सन्ति तान् विद्यादिशुभगुणानां दानकर्तॄनहं (आ अवित्सि) आ समन्ताद्वेद्मि । अत्र व्यत्ययेनात्मनेपदमिडभावश्च । तान् विदित्वा, सङ्गम्य च, (विष्णोः) सर्वत्रव्यापकस्य परमेश्वरस्य (विक्रमणं च) विविधक्रमेण जगद्रचनं तथा (नपातं च) न विद्यते पातो विनाशो यस्य तन्मोक्षाख्यं पदं च वेद्मि । यत्प्राप्य मुक्तानां सद्यः पातो न विद्यते । तदेतच्च विदुषां सङ्गेनैव प्राप्तं भवति । तस्मात्सर्वैर्विदुषां समागमः सदा कर्त्तव्य इति ॥ १२ ॥

भाषार्थ

(ये नः पूर्वे पितरः) जो कि हमारे पूर्व पितर अर्थात् पिता पितामह और अध्यापक लोग शान्तात्मा तथा (अनूहिरे सोमपीथं वसिष्ठाः) जो सोमपान के करने कराने और वसिष्ठ अर्थात् सब विद्या में रमण करने वाले हैं (तेभिर्यमः सꣳरराणो०) ऐसे महात्माओं के साथ समागम करके विद्या होने से यम अर्थात् न्यायकारी अन्तर्यामी परमेश्वर निस्सन्देह जाना जाता है । (हविः) जो सत्यभक्ति आदि पदार्थों की कामना और (उशद्भिः प्रतिका०) सब कामों के बीच में सत्यसेवन करने वाले तथा जिनका आधारभूत परमेश्वर ही है । हे मनुष्य लोगो ! ऐसे धर्मात्मा पुरुषों के सत्सङ्ग से तुम भी उसी परमात्मा के आनन्द से तृप्त हो । इस में निरुक्तकार का प्रमाण अ० ११ । खं० १९ । निरुक्त में लिखा है (अङ्गिरसो नवगतय इत्यादि) वहां देख लेना ॥ १० ॥ (बर्हिषदः पि०) जो ब्रह्म और सत्यविद्या में स्थित पितर लोग हैं वे हमारी रक्षा के लिये सदा तत्पर रहें । इस प्रकार से कि हम लोग तो उनकी सेवा करें और वे लोग हमको प्रीतिपूर्वक विद्यादि दान से प्रसन्न कर देवें । (त आगतावसा०) हे पितर लोगो ! हम काङ्क्षा करते हैं कि जब २ आप हमारे वा हम आप के पास आवें जावें तब २ (इमा हव्या०) हम लोग उत्तम २ पदार्थों से आप लोगों की सेवा करें और आप लोग भी उनको प्रीतिपूर्वक ग्रहण करें । (अथ०) अर्थात् हम लोग तो अन्नादि पदार्थों से और आप लोग (शन्त०) हमारे कल्याणकारी गुणों के

उपदेश से (अथानः शंयो०) इस के पीछे हमारे कल्याण के विधान से (अरपः) अर्थात् जिससे हम लोग पाप न करें ऐसी बातों का धारण कराइये ॥ ११ ॥ (आहं पितॄन्०) मैं जानता हूं कि पितर लोग अपनी उत्तम विद्या और अपने उपदेश से सुख देने वाले हैं । (नपातं च विक्रमणं च विष्णोः) जो मैं सब में व्यापक परमेश्वर का विक्रमण अर्थात् सृष्टि का रचन और नपात अर्थात् उसके अविनाशी पद को भी (आ) (अवित्सि) ठीक २ जानता हूं । (बर्हिषदो ये०) यह ज्ञान मुझ को उन्हीं पितर लोगों की कृपा से हुआ है जिनको देवयान कहते हैं । और जिसकी प्राप्ति से जीव पुनर्दुःख में कभी नहीं गिरता । तथा जिस में पूर्ण सुख प्राप्त होता है । उन दोनों मार्गों को भी मैं विद्वानों के ही सङ्ग से जानता हूं । (स्वधा०) जो विद्वान् अपने अमृतरूप उपदेश से पुत्र की भावना के साथ विद्यादान करते हैं, तथा उस में आप भी (पित्वः) आनन्दित होकर संसार में सब सुखों के देने वाले होते हैं वे सर्वहितकारी पुरुष हमारे पास भी सदा आया करें कि जिससे हम लोगों में नित्य ज्ञान की उन्नति हुआ करे ॥ १२ ॥

उप॑हूताः पि॒तरः॑ सो॒म्यासो॑ बर्हि॒ष्ये॒षु नि॒धिषु॑ प्रि॒येषु॑ । त आ ग॑मन्तु त इ॒ह श्रु॑वन्त्वधि॑ ब्रुवन्तु तेऽवन्त्व॒स्मान् ॥ १३ ॥ अग्नि॑ष्वात्ताः पितर॒ एह ग॑च्छत॒ सदः॑ सदः सदत सुप्रणीतयः । अ॒त्ता ह॒वींषि॒ प्रय॑तानि ब॒र्हिष्यथा॑ र॒यिं॒ सर्व॑वीरं दधातन ॥ १४ ॥ ये अ॒ग्निष्वा॒त्ता ये अन॑ग्निष्वात्ता मध्ये॑ दि॒वः स्व॒धया॑ मा॒दय॑न्ते । तेभ्यः॑ स्व॒राडसु॑नीतिमे॒तां य॑था व॒शन्त॒न्व॑ङ्कल्पयाति ॥ १५ ॥ य० अ० १९ । मं० ५७ । ५९ । ६० ॥

भाष्यम्

(सोम्यासः) ये प्रतिष्ठार्हाः पितरस्ते (बर्हिष्येषु) प्रकृष्टेषु (निधिषु) उत्तमवस्तुस्थापनार्हेषु (प्रियेषु) प्रीत्युत्पादकेषु आसनेषु (उपहूताः) निमन्त्रिताः सन्तः सीदन्तु, (आगमन्तु) सत्कारं प्राप्यास्मत्समीपं वारंवारमागच्छन्तु, (त इह) त इहागत्यास्मत्प्रश्नान् (श्रुवन्तु) शृण्वन्तु, श्रुत्वा तदुत्तराणि (अधिब्रुवन्तु) कथयन्तु । एवं विद्यादानेन व्यवहारोपदेशेन च (तेऽवन्त्वस्मान्) सदाऽस्मान् रक्षन्तु ॥ १३ ॥ (अग्निष्वात्ताः पितर एह गच्छत) हे पूर्वोक्ता अग्निष्वात्ताः पितरः ! अस्मत्सन्निधौ प्रीत्या आगच्छत । आगत्य (सुप्रणीतयः)

शोभना प्रकृष्टा नीतिर्येषां त एवम्भूता भवन्तः पूज्याः सन्तः (सदः सदः सदत) प्रतिगृहं प्रतिसभां चोपदेशार्थं स्थितिं भ्रमणं च कुरुत । (अत्ता हवींꣳषि) प्रयत्नयुक्तानि कर्माणि, देययोग्यान्युत्तमान्नानि वा यूयं स्वीकुरुत । (बर्हिष्यथा०) अथेत्यनन्तरं, बर्हिषि सदसि गृहे वा स्थित्वा (रयिꣳसर्ववीरं) सर्वैर्वीरैर्युक्तं विद्यादिधनं यूयं दधातन । यतोऽस्मासु बुद्धिशरीरबलयुक्ता वीराः स्थिराः भवेयुः, सत्यविद्याकोशश्च ॥ १४ ॥ (ये अग्निष्वात्ता०) ये अग्निविद्यायुक्ताः, (अनग्निष्वात्ताः) ये वायुजलभूगर्भादिविद्यानिष्ठाः, (मध्ये दिवः) द्योतनात्मकस्य परमेश्वरस्य सद्विद्याप्रकाशस्य च मध्ये (स्वधया) अन्नविद्यया शरीरबुद्धिबलधारणेन च (मादयन्ते) आनन्दिता भूत्वा, अस्मान्सर्वान् जनानानन्दयन्ति, (तेभ्यः) तेभ्यो विद्वद्भ्यो वयं नित्यं सद्विद्यां तथा (असुनीतिमेतां) सत्यन्याययुक्तामेतां प्राणनीतिं च गृह्णीयाम । (यथा वशं) ते विद्वांसो वयं च विद्याविज्ञानप्राप्त्या सर्वोपकारेषु नियमेषु स्वतन्त्राः (?), प्रत्येकाप्रियेषु च परतन्त्रा (?) भवन्तु यतः । (स्वराट्) स्वयं राजते प्रकाशते, स्वान् राजयति प्रकाशयति वा स स्वराट् परमेश्वरः, (तन्व कल्पयाति) तनुं विद्वच्छरीरमस्मदर्थं कृपया कल्पयाति, कल्पयतु, निष्पादयतु । यतोऽस्माकं मध्ये बहवो विद्वांसो भवेयुः ॥ १५ ॥

भाषार्थ

(उपहूताः पितरः) उन पितरों को हम लोग निमन्त्रण देते हैं कि वे हमारे समीप आके (बर्हिष्येषु) उत्तम आसनों पर बैठकर जो कि बहुमूल्य और सुनने में प्रिय हों हमको उपदेश करें । (त आगमन्तु०) जब वे पितर आवें तब सब लोग उन का इस प्रकार से सन्मान करें कि आप आइये, उत्तम आसन पर बैठिये, (इह श्रुवन्तु) यहां हमारी विद्या की बातें और प्रश्न सुनिये, (अधिब्रुवन्तु) इन प्रश्नों के उत्तर दीजिये और मनुष्यों को ज्ञान देके उनकी रक्षा कीजिये ॥ १३ ॥ (अग्निष्वात्ताः पितर एह०) हे अग्निविद्या के जानने वाले पितर लोगो ! आप उपदेशक होकर हमारे घरों में आकर उपदेश और निवास कीजिये । फिर वे पितर कैसे होने चाहियें कि (सुप्रणीतयः) उत्तम २ गुणयुक्त होके (बर्हिषि०) सभा के बीच में सत्य २ न्याय करने हारे हों । तथा (हविः) वे ही दान और ग्रहण के योग्य विद्यादि गुणों का दान और ग्रहण कराने वाले हों । (रयिꣳ सर्ववीरं दधातन) विद्यादि जो उत्तम धन है कि जिस से वीरपुरुष युक्त सेना की प्राप्ति होती है उसके उपदेश

से हम को पुष्ट करें। ऐसे ही उन विद्वानों के प्रति भी ईश्वर का यह उपदेश है कि वे लोग देश २ और घर २ में जाके सब मनुष्यों को सत्यविद्या का उपदेश करें ॥१४॥ (ये अग्निष्वात्ता ये अनग्निष्वात्ताः) जो पितर अग्निविद्या और सोमविद्या के जानने वाले तथा (मध्ये दिवः स्वधया मादयन्ते) जो कि दिव अर्थात् विज्ञानरूप प्रकाश के बीच में सुखभोग से आनन्दित रहते हैं (तेभ्यः स्वराडसु०) उन के हितार्थ स्वराट् जो स्वप्रकाशस्वरूप परमेश्वर है वह (असुनीतिम्) अर्थात् प्राण-विद्या का प्रकाश कर देता है। इसलिये हम प्रार्थना करते हैं कि (यथाव-शन्तन्वं कल्पयाति) हे परमेश्वर ! आप अपनी कृपा से उन के शरीर सदा सुखी तेजस्वी और रोगरहित रखिये कि जिससे हम को उन के द्वारा ज्ञान प्राप्त होता रहे ॥ १५ ॥

अग्निष्वात्तानृतुमतो हवामहे नाराशꣳसे सोमपीथं य आशुः। ते नो विप्रासः सुहवा भवन्तु वयꣳ स्याम पतयो रयीणाम् ॥ १६ ॥ ये चेह पितरो ये च नेह यांश्च विद्म याँ२॥ उ च न प्रविद्म। त्वं वेत्थ यति ते जातवेदः स्वधाभिर्यज्ञꣳ सुकृतं जुषस्व ॥ १७ ॥ इदं पितृभ्यो नमो अस्त्वद्य ये पूर्वासो य उ परास ईयुः। ये पार्थिवे रजस्या निषत्ता ये वा नूनꣳ सुवृजनासु विक्षु ॥ १८ ॥ य० अ० १६। मं० ६१। ६७। ६८ ॥

भाष्यम्

(अग्निष्वात्ता०) हे मनुष्याः ! यथा वयं, ऋतुविद्यावतोऽर्थाद्यथासमयमु-द्योगकारिणोऽग्निष्वात्ताः पितरः सन्ति तान्, (हवामहे) आह्वयामहे तथैव युष्माभिरपि तत्सेवनायाह्वानं नित्यं कार्य्यम् । (सोमपीथं य आशुः) ये सोमपानमश्नन्ति, ये च (नाराशꣳसे) नरैः प्रशस्येऽनुष्ठातव्ये कर्मणि कुशलाः सन्ति, (ते नो विप्रासः) ते विप्रा मेधाविनो, नोऽस्मान् (सुहवा०) सुष्ठुतया ग्रहीतारो भवन्तु । (सोमपीथं०) ये सोमविद्यादानग्रहणाभ्यां तृप्ताः, एषां संगेन (वयꣳस्याम पतयो०) सत्यविद्याचक्रवर्त्तिराज्यश्रीणां पतयः पालकाः स्वामिनो भवेम ॥ १६ ॥ (ये चेह पितरो०) ये पितरो विद्वांस इहास्मत्सन्निधौ वर्त्तन्ते, ये चेहास्मत्समक्षे न सन्त्यर्थाद्देशान्तरे तिष्ठन्ति, (यांश्च विद्म) यान् वयं जानीमः, (याँ२॥ उचन०) दूरदेशस्थितया यांश्च वयं न जानीमस्तान् सर्वान्, हे

(जातवेदः) परमेश्वर ! (त्वं वेत्थ) त्वं यथावज्जानास्यतो भवान् तेषामस्माकं च सङ्गं निष्पादय । (स्वधा०) योऽस्माभिस्सुकृतः सम्यगनुष्ठितो यज्ञोस्ति, त्वं स्वधाभिरन्नाद्याभिः सामग्रीभिः सम्पादितं यज्ञं सदा जुषस्व, सेवस्व । येनास्माकमभ्युदयनिःश्रेयसकरं क्रियाकाण्डं सम्यक् सिध्येत् । (यति ते) ये यावन्तः परोक्षा विद्यमाना विद्वांसः सन्ति तानस्मान्प्रापय ॥ १७ ॥ (इदं पितृभ्यः) ये पितरोऽद्येदानीमस्मत्समीपेऽध्ययनाध्यापने कर्मणि वर्त्तन्ते, (पूर्वासः) पूर्वमधीत्य विद्वांसः सन्ति, (ये पार्थिवे रजसि) ये पृथिवीसम्बन्धिभूगर्भविद्यायां (आनिषत्ता) आ समन्तान्निषण्णाः सन्ति, (ये चानूनꣳसु०) ये च सुष्ठुबलयुक्तासु प्रजासभाध्यक्षाः सभासदो भूत्वा न्यायाधीशत्वादिकर्मणेऽधिकृताः सन्ति, ते चास्मानीयुः प्राप्नुयुः । इत्थं भूतेभ्यः पितृभ्योऽस्माकमिदं सततं नमोस्तु ॥ १८ ॥

भाषार्थ

(अग्निष्वात्तानृतुमतो०) हे मनुष्य लोगो ! जैसे हम लोग अग्निविद्या और समयविद्या के जानने वाले पितरों को मान्य से बुलाते हैं वैसे ही तुम लोग भी उन के पास जाते और उन को अपने पास सदा बुलाते रहो जिससे तुम्हारी सब दिन विद्या बढ़ती रहे ॥ (नाराशꣳसे सोमपीथं य आशुः) जो सोमलतादि ओषधियों के रसपान तथा रक्षा से मनुष्यों को श्रेष्ठ करने वाले हैं उन से हम लोग सत्यशिक्षा लेके आनन्दित हों । (ते नो विप्राः सुहवा०) वे विद्वान् लोग हम को सत्यविद्या का ग्रहण प्रीतिपूर्वक सदा कराते रहें । (वयꣳस्याम पतयो रयीणाम्०) जिससे कि हम लोग सुविद्या से चक्रवर्त्ति राज्य की श्री आदि उत्तम पदार्थों को प्राप्त तथा उन की रक्षा और उन्नति करने में भी समर्थ हों ॥ १६ ॥ (ये चेह पितरो०) हे जातवेद परमेश्वर ! जो पितर लोग हमारे समीप और दूर देश में हैं, (यांश्च विद्म) जिन को समीप होने से हम लोग जानते और (यां२॥ उचन प्रविद्म) जिन को दूर होने के कारण नहीं भी जानते हैं, (यति ते०) जो इस संसार के बीच में वर्त्तमान हैं (त्वं वेत्थ) उन सब को आप यथावत् जानते हैं, कृपा कर के उन का और हमारा परस्पर सम्बन्ध सदा के लिये कीजिये । (स्वधाभिर्यज्ञꣳसुकृतं) और आप अपनी धारणादि शक्तियों से व्यवहार और परमार्थरूप श्रेष्ठ यज्ञों को प्रीतिपूर्वक सेवन कीजिये कि जिससे हम लोगों को सब सुख प्राप्त होते रहैं ॥ १७ ॥ (इदं

पितृभ्यो न०) हम लोग उन सब पितरों को नमस्कार करते हैं (अद्य पूर्वासो य उ परास ईयुः) जो कि प्रथम आप विद्वान् होके हम लोगों को भी विद्या देते हैं। अथवा जो कि विरक्त और संन्यासी होके सर्वत्र विचरते हुए उपदेश करते हैं। तथा (ये पार्थिवे रजस्या निषत्ताः) जो कि पार्थिव अर्थात् भूगर्भविद्या और सूर्यादि लोकों के जानने वाले हैं। तथा (ये वा नूनꣳसु०) जो कि निश्चय करके प्रजाओं के हित में उद्यत और उत्तम सेनाओं के बीच में बड़े चतुर हैं उन सभों को हम लोग नमस्कार करते हैं इसलिये कि वे सब दिन हमारी उन्नति करते रहें ॥ १८ ॥

उशन्तस्त्वा निधीमह्युशन्तः समिधीमहि । उशन्नुशत आवह पितॄन्हविषे अत्तवे ॥ १९ ॥ य० अ० १९ । मं० ७० ॥ पितृभ्यः स्वधायिभ्यः स्वधा नमः । पितामहेभ्यः स्वधायिभ्यः स्वधा नमः । प्रपितामहेभ्यः स्वधायिभ्यः स्वधा नमः । अक्षन् पितरोऽमीमदन्त पितरोऽतीतृपन्त पितरः पितरः शुन्धध्वम् ॥ २० ॥ पुनन्तु मा पितरः सोम्यासः पुनन्तु मा पितामहाः पुनन्तु प्रपितामहाः पवित्रेण शतायुषा । पुनन्तु मा पितामहाः पुनन्तु प्रपितामहाः पवित्रेण शतायुषा विश्वमायुर्व्यश्नवै ॥ २१ ॥ य० अ० १९ । मं० ३६ । ३७ ॥

भाष्यम्

(उशन्तस्त्वा निधीमहि) हे परमेश्वर ! वयं त्वां कामयमाना, इष्टत्वेन हृदयाकाशे, न्यायाधीशत्वेन राष्ट्रे, सदा स्थापयामः (उशन्तः समिधीमहि) जगदीश्वर ! त्वां शृण्वन्तः श्रावयन्तः सम्यक् प्रकाशयेमहि । कस्मै प्रयोजनायेत्यत्राह । (हविषे अत्तवे०) सद्विद्याग्रहणाय तेभ्यो धनाद्युत्तमपदार्थदानायानन्दभोगाय च (उशन्नुशत आवह पितॄन्) सत्योपदेशविद्याकामयमानान् कामयमानस्संस्त्वमस्मानावहासमन्तात्प्रापय ॥ १९ ॥ (पितृभ्यः) स्वां स्वकीयाममृताख्यां मोक्षविद्यां कर्त्तुं शीलं येषां, तेभ्यो वसुसंज्ञकेभ्यो विद्याप्रदातृभ्यो, जनकेभ्यश्च, (स्वधा) अन्नाद्युत्तमवस्तु दद्मः । ये च चतुर्विंशतिवर्षपर्य्यन्तेन ब्रह्मचर्य्येण विद्यामधीत्याध्यापयन्ति ते वसुसंज्ञकाः, (पितामहेभ्यः) ये चतुश्चत्वारिंशद्वर्षपर्य्यन्तेन ब्रह्मचर्येण विद्यां पठित्वा पाठयन्ति ते पितामहाः, (प्रपितामहेभ्यः) येऽष्टाचत्वारिंशद्वर्षप्रमितेन ब्रह्मचर्य्येण विद्यापारावारं प्राप्याध्यापयन्ति त आदित्याख्या, अर्थात् सत्यविद्याद्योतकाः, (नमः) तेभ्योऽ-

स्माकं सततं नमोस्तु । (अक्षन् पितरः) हे पितरो ! भवन्तोऽत्रास्माकमत्रैव भोजनाच्छादनादिकं कुर्वीरन् । अमीमदन्त पितर इति पूर्वं व्याख्यातम् । (अतीतृपन्त पितरः) हे पितरोऽस्मत्सेवयाऽऽनन्दिता भूत्वा तृप्ता भवत । (पितरः शुन्धध्वम्) हे पितरो ! यूयमुपदेशेनाविद्यादिदोषविनाशादस्मान् शुन्धध्वं पवित्रान् कुरुत ॥ २० ॥ (पुनन्तु मा पितरः) भो पितरः ! पितामहाः ! प्रपितामहाश्च ! भवन्तो मां मनःकर्मवचनद्वारा वारंवारं पुनन्तु, पवित्रव्यवहारकारिणं कुर्वन्तु । केन पुनन्त्वित्याह, (पवित्रेण०) पवित्रकर्मानुष्ठानकरणोपदेशेन, (शतायुषा) शतवर्षपर्य्यन्तजीवननिमित्तेन ब्रह्मचर्य्येण मां पुनन्तु । अग्रे पुनन्त्विति क्रियात्रयं योजनीयम् । येनाहं (विश्वमायुर्व्यश्नवै) सम्पूर्णमायुः प्राप्नुयाम् । अत्र पुरुषो वाव (प्र० ३ खं० १६) यज्ञ इत्याकारकेण छान्दोग्योपनिषत्प्रमाणेन विदुषां वसुरुद्रादित्यसंज्ञा वेदितव्याः ॥ २१ ॥

भाषार्थ

(उशन्तस्त्वा निधीमहि) हे अग्ने परमेश्वर ! हम लोग आपकी प्राप्ति की कामना करके आपको अपने हृदय में निहित अर्थात् स्थापित और (उशन्तः समिधीमहि) आप का ही सर्वत्र प्रकाश करते रहैं । (उशन्नुशत आवह पितॄन्) हे भगवन् ! आप हमारे कल्याण के अर्थ पूर्वोक्त पितरों को नित्य प्राप्त कीजिये कि (हविषे अत्तवे) हम लोग उन की सेवा में विद्या लेने के लिये स्थिर रहैं ॥ १९ ॥ (पितृभ्यः स्वधा०) जो चौवीस वर्ष ब्रह्मचर्य्याश्रम से विद्या पढ़ के सब को पढ़ाते हैं उन पितरों को हमारा नमस्कार है । (पितामहेभ्यः०) जो चवालीस वर्ष पर्य्यन्त ब्रह्मचर्य्याश्रम से वेदादि विद्याओं को पढ़ के सब के उपकारी और अमृतरूप ज्ञान के देने वाले होते हैं, (प्रपितामहेभ्यः०) जिन्होंने अड़तालीस वर्ष पर्य्यन्त जितेन्द्रियता के साथ संपूर्ण विद्याओं को पढ़ के हस्तक्रिया से भी सब विद्या के दृष्टान्त साक्षात् देख के दिखलाते और जो सब के सुखी होने के लिये सदा प्रयत्न करते रहते हैं उन का मान भी सब लोगों को करना उचित है । पिताओं का नाम वसु है, क्योंकि वे सब विद्याओं में वास करने के लिये योग्य होते हैं । ऐसे ही पितामहों का नाम रुद्र है, क्योंकि वे वसुसंज्ञक पितरों से दूनी अथवा शतगुणी विद्या और बलवाले होते हैं, तथा प्रपितामहों का नाम आदित्य है, क्योंकि वे सब विद्याओं और सब गुणों में सूर्य्य

के समान प्रकाशमान होके सब विद्या और लोगों को प्रकाशमान करते हैं। इन तीनों का नाम वसु, रुद्र और आदित्य इसलिये है कि वे किसी प्रकार की दुष्टता मनुष्यों में रहने नहीं देते। इस में (पुरुषो वाव यज्ञ०) यह छान्दोग्य उपनिषद् का प्रमाण लिख दिया है सो देख लेना। (अक्षन् पितरः०) हे पितर लोगो! तुम विद्यारूप यज्ञ को फैला के सुख भोगो, तथा (अमीमदन्त पितरः०) हमारी सेवा से अत्यन्त प्रसन्न रहो, (अतीतृपन्त पितरः) हमारी सेवा से तृप्त होकर हम को भी आनन्दित और तृप्त करते रहो, तथा जिस पदार्थ को तुम चाहो अथवा हम आप की सेवा में भूलें तो आप लोग हम को शिक्षा करो। (पितरः शुन्धध्वम्) हे पितर लोगो! आप हम को धर्मोपदेश और सत्य विद्याओं से शुद्ध करें कि जिससे हम लोग आप के साथ मिल के सनातन परमात्मा की भक्ति अपनी शुद्धि के अर्थ प्रेम से करें॥ २०॥ (पुनन्तु मा पितरः) जो पितर लोग शान्तात्मा और दयालु हैं वे मुझ को विद्यादान से पवित्र करें, (पुनन्तु मा पितामहाः) इसी प्रकार पितामह और प्रपितामह भी मुझको अपनी उत्तम विद्या पढ़ा के पवित्र करें। इसलिये कि उन की शिक्षा को सुन के ब्रह्मचर्य्य धारण करने से सौ वर्ष पर्य्यन्त आनन्दयुक्त उमर होती रहै। इस मन्त्र में दो बार पाठ केवल आदर के लिये है। इत्यादि अन्य मन्त्र भी इन्हीं विषयों के पुष्टिकारक हैं। उन सभों का अर्थ सर्वत्र इसी प्रकार से समझ लेना चाहिये। तथा जहां कहीं अमावास्या में पितृयज्ञ करना लिखा है वहां भी इसी अभिप्राय से है कि जो कदाचित् नित्य उन की सेवा न बन सके तो महीने २ अर्थात् अमावास्या में मासेष्टि होती है उस में उन लोगों को बुला के अवश्य सत्कार करें॥ २१॥

इति पितृयज्ञः समाप्तः

अथ बलिवैश्वदेवविधिर्लिख्यते

यदन्नं पक्वमक्षारलवणं भवेत्तेनैव बलिवैश्वदेवकर्म कार्य्यम्।

वैश्वदेवस्य सिद्धस्य गृह्येऽग्नौ विधिपूर्वकम्।
आभ्यः कुर्य्याद्देवताभ्यो ब्राह्मणो होममन्वहम्॥ १॥
मनुस्मृतौ अ० ३। श्लोकः ८४॥

अथ बलिवैश्वदेवकर्मणि प्रमाणम्

अहरहर्बलिमित्ते हरन्तोऽश्वायेव तिष्ठते घासमग्ने । रायस्पोषेण समिषा मदन्तो मा ते अग्ने प्रतिवेशा रिषाम ॥ १ ॥ अथर्व० कां० १९ । अनु० ७ । सू० ५५ । मं० ७ ॥ पुनन्तु मा देवजनाः पुनन्तु मनसा धियः । पुनन्तु विश्वा भूतानि जातवेदः पुनीहि मा स्वाहा * ॥ २ ॥ य० अ० १९ । मं० ३९ ॥

भाष्यम्

(अग्ने) हे परमेश्वर ! (ते) तुभ्यं, त्वदाज्ञापालनार्थं, (इत्) एव, (तिष्ठतेऽश्वाय) (घासं) यथाऽश्वस्याग्रे पुष्कलः पदार्थः स्थाप्यते, तथैव (इव) (अहरहः) नित्यं प्रति (बलिं) (हरन्तः) भौतिकमग्निमतिथींश्च बलीन् प्रापयन्तः, (समिषा) सम्यगिष्यते या सा समिट् तया श्रद्धया (रायस्पोषेण) चक्रवर्त्तिराज्यलक्ष्म्या (मदन्तः) हर्षन्तो वयं, (अग्ने) हे परमात्मन् ! (ते) तव (प्रतिवेशाः) प्रतिकूला भूत्वा सृष्टिस्थान् प्राणिनः (मारिषाम) मा पीड़येम । किन्तु भवत्कृपया सर्वे जीवा अस्माकं मित्राणि सन्तु, सर्वेषां च वयं सखायः स्म, इति ज्ञात्वा परस्परं नित्यमुपकारं कुर्य्याम ॥ १ ॥ (पुनन्तु मा०) अस्य मन्त्रस्यार्थस्तर्पणविषय उक्तः ।

भाषार्थ

(अग्ने) हे परमेश्वर ! जैसे खाने योग्य पुष्कल पदार्थ घोड़े के आगे रखते हैं वैसे ही आप की आज्ञापालन के लिये, (अहरहः) प्रतिदिन भौतिक अग्नि में होम करते, और अतिथियों को (बलिं) अर्थात् भोजन देते हुए हम लोग अच्छी प्रकार वांछित चक्रवर्त्ति राज्य की लक्ष्मी से आनन्द को प्राप्त होके (अग्ने) हे परमात्मन् ! (प्रति वेशाः) आपकी आज्ञा से उलटे होके आप के उत्पन्न किये हुए प्राणियों को (मा रिषाम) अन्याय से दुःख कभी न देवें । किन्तु आपकी कृपा से सब जीव हमारे मित्र और हम सब जीवों के मित्र रहैं । ऐसा जानकर परस्पर उपकार सदा करते रहें ॥ १ ॥ (पुनन्तु मा०) इस मन्त्र का अर्थ तर्पणविषय में कह दिया है ॥ २ ॥

---

* स्वाहेति पदं मंत्रे नास्ति ।

ओमग्नये स्वाहा ॥ ओं सोमाय स्वाहा ॥ ओमग्नीषोमाभ्यां स्वाहा ॥ ओं विश्वेभ्यो देवेभ्यः स्वाहा ॥ ओं धन्वन्तरये स्वाहा ॥ ओं कुह्वै स्वाहा ॥ ओमनुमत्यै स्वाहा ॥ ओं प्रजापतये स्वाहा ॥ ओं सह द्यावापृथिवीभ्याᳬं स्वाहा ॥ ओं स्विष्टकृते स्वाहा ॥

भाष्यम्

(ओम०) अग्न्यर्थ उक्तः । (ओं सो०) सर्वानन्दप्रदो, यः सर्वजगदुत्पादक ईश्वरः सोऽत्र ग्राह्यः । (ओमग्नी०) प्राणापानाभ्यामनयोरर्थो गायत्रीमन्त्रार्थ उक्तः । (ओं वि०) विश्वे देवा विश्वप्रकाशका ईश्वरगुणाः, सर्वे विद्वांसो वा । (ओं ध०) सर्वरोगनाशक ईश्वरोऽत्र गृह्यते । (ओं कु०) दर्शेष्टयर्थोऽयमारम्भः, अमावास्येष्टिप्रतिपादितायै चितिशक्तये वा । (ओम०) पौर्णमास्येष्टयर्थोयमारम्भः, विद्यापठनानन्तरं मतिर्मननं ज्ञानं यस्याश्चितिशक्तेः साऽनुमतिर्वा तस्यै । (ओं प्र०) सर्वजगतः स्वामी रक्षक ईश्वरः । (ओं सह०) ईश्वरेण प्रकृष्टगुणैः सहोत्पादिताभ्यामग्निभूमिभ्यां सर्वोपकारा ग्राह्याः । एतदर्थोयमारम्भः । (ओं स्विष्ट०) यः सुष्ठु शोभनमिष्टं सुखं करोति स चेश्वरः । एतैर्मन्त्रैर्होमं कृत्वाऽथ बलिप्रदानं कुर्य्यात् ।

भाषार्थ

(ओम०) अग्नि शब्द का अर्थ पीछे कह आये हैं, (ओं सो०) अर्थात् सब पदार्थों को उत्पन्न, पुष्ट करने और सुख देनेवाला, (ओम०) जो सब प्राणियों के जीवन का हेतु प्राण तथा जो दुःखनाश का हेतु अपान, (ओं वि०) संसार के प्रकाश करने वाले ईश्वर के गुण अथवा विद्वान् लोग, (ओं ध०) जन्ममरणादि रोगों का नाश करनेवाला परमात्मा, (ओं कु०) अमावास्येष्टि का करना, (ओम०) पौर्णमास्येष्टि वा सर्वशास्त्रप्रतिपादित परमेश्वर की चितिशक्ति, (ओं प्र०) सब जगत् का स्वामी जगदीश्वर, (ओं स०) सत्यविद्या के प्रकाश के लिये पृथिवी का राज्य और अग्नि तथा भूमि से अनेक उपकारों का ग्रहण, (ओं स्वि०) इष्ट सुख का करनेवाला परमेश्वर इन दश मन्त्रों के अर्थों से ये १० प्रयोजन जान लेना । अब आगे बलिदान के मन्त्र लिखते हैं ।

ओं सानुगायेन्द्राय नमः ॥ १ ॥ ओं सानुगाय यमाय नमः ॥ २ ॥ ओं सानुगाय वरुणाय नमः ॥ ३ ॥ ओं सानुगाय सोमाय नमः ॥ ४ ॥

ओं मरुद्भ्यो नमः ॥ ५ ॥ ओमद्भ्यो नमः ॥ ६ ॥ ओं वनस्पतिभ्यो नमः ॥ ७ ॥ ओं श्रियै नमः ॥ ८ ॥ ओं भद्रकाल्यै नमः ॥ ९ ॥ ओं ब्रह्मपतये नमः ॥ १० ॥ ओं वास्तुपतये नमः ॥ ११ ॥ ओं विश्वेभ्यो देवेभ्यो नमः ॥ १२ ॥ ओं दिवाचरेभ्यो भूतेभ्यो नमः ॥ १३ ॥ ओं नक्तंचारिभ्यो नमः ॥ १४ ॥ ओं सर्वात्मभूतये नमः ॥ १५ ॥ ओं पितृभ्यः स्वधायिभ्यः स्वधा नमः ॥ १६ ॥ इति नित्यश्राद्धम् ।

भाष्यम्

(ओं सा०) णमप्रह्वत्वे शब्दे इत्यनेन सत्क्रियापुरस्सरविचारेण मनुष्याणां यथार्थं विज्ञानं भवतीति वेद्यम् । नित्यैर्गुणैः सह वर्त्तमानः परमैश्वर्य्यवानीश्वरोऽत्र गृह्यते । (ओं सानु०) पक्षपातरहितो न्यायकारित्वादिगुणयुक्तः परमात्माऽत्र वेद्यः । (ओं सा०) विद्याद्युत्तमगुणविशिष्टः सर्वोत्तमः परमेश्वरोऽत्र ग्रहीतव्यः । (ओं सानुगाय०) अस्यार्थ उक्तः । (ओं म०) य ईश्वराधारेण सकलं विश्वं धारयन्ति चेष्टयन्ति च ते मरुतः । (ओम०) अस्यार्थः शन्नो देवीरित्यत्रोक्तः । (ओं वन०) वनानां लोकानां पतय ईश्वरो* वायुमेघादयः पदार्था अत्र ग्राह्याः, यद्वोत्तमगुणयोगेनेश्वरेणोत्पादितेभ्यो महावृक्षेभ्यश्चोपकारग्रहणं सदा कार्यमिति बोध्यम् । (ओं श्रि०) श्रीयते सेव्यते सर्वजनैस्सा श्रीरीश्वरः सर्वसुखशोभावत्त्वात्, यद्वेश्वरेणोत्पादिता विश्वशोभा च । (ओं भ०) या भद्रं कल्याणं सुखं कलयति सा भद्रकालीश्वरशक्तिः । (ओम्ब्र०) ब्रह्मणः सर्वशास्त्रविद्यायुक्तस्य वेदस्य ब्रह्माण्डस्य वा पतिरीश्वरः । (ओं वास्तु०) वसन्ति सर्वाणि भूतानि यस्मिंस्तद्वास्त्वाकाशं तत्पतिरीश्वरः । (ओं वि०) अस्यार्थ उक्तः । (ओं दिवा०) (ओं नक्तं०) ईश्वरकृपयैवं भवेन्नः दिवसे यानि भूतानि विचरन्ति रात्रौ च तानि विघ्नं मा कुर्वन्तु, तैः सहाविरोधोऽस्तु नः, एतदर्थोयमारम्भः । (ओं स०) सर्वेषां जीवात्मनां भूतिर्भवनं सत्तेश्वरोत्र ग्राह्यः । (ओं पि०) अस्यार्थ उक्तः पितृतर्पणे । नम इत्यस्य निरभिमानद्योतनार्थः परस्योत्कृष्टतामन्यज्ञापनार्थश्चारम्भः ।

भाषार्थ

(ओं सानु०) सर्वैश्वर्य्ययुक्त परमेश्वर और उसके गुण, (ओं सा०) सत्य न्याय

---

* ईश्वरोत्पादिता इति हस्तलिखित भूमिकायाम्

करनेवाला और उस की सृष्टि में सत्य न्याय के करनेवाले सभासद्, (ओं सा०) सब से उत्तम परमात्मा और उसके धार्मिक भक्त जन, (ओं सा०) पुण्यात्माओं को आनन्द करानेवाला परमात्मा और वे लोग, (ओं मरुत्०) अर्थात् प्राण जिन के रहने से जीवन और निकलने से मरण होता है उनकी रक्षा करना, (ओमद्भ्यो०) इसका अर्थ शन्नोदेवी इस मन्त्र में लिख दिया है, (ओं व०) ईश्वर के उत्पन्न किये हुए वायु और मेघ आदि सब के पालन के हेतु सब पदार्थ तथा जिन से अधिक वर्षा और जिनके फलों से जगत् का उपकार होता है उन की रक्षा करनी, (ओं श्रि०) जो सेवा करने के योग्य परमात्मा और पुरुषार्थ से राज्यश्री की प्राप्ति करने में सदा उद्योग करना, (ओं भ०) जो कल्याण करनेवाली परमात्मा की शक्ति अर्थात् सामर्थ्य है उस का सदा आश्रय करना, (ओं ब्र०) जो वेद के स्वामी ईश्वर की प्रार्थना विद्या के लिये करना, (ओं वा०) वास्तुपति अर्थात् जो गृहसम्बन्धी पदार्थों का पालन करनेवाला ईश्वर, (ओं ब्रह्म०) वेद शास्त्र का रक्षक जगदीश्वर, (ओं वि०) इस का अर्थ कह दिया है, (ओं दि०) जो दिन में और (ओं नक्त०) रात्रि में विचरने वाले प्राणी हैं उन से उपकार लेना और उन को सुख देना (सर्वात्म०) सब में व्याप्त परमेश्वर की सत्ता को सदा ध्यान में रखना, (ओं पि०) माता पिता और आचार्य्य आदि को प्रथम भोजनादि से सेवा करके पश्चात् स्वयं भोजनादि करना । स्वाहा शब्द का अर्थ पूर्व कर दिया है और नमः शब्द का अर्थ यह है कि आप अभिमान रहित होना और दूसरे का मान्य करना । इस के पीछे ये छः भाग करना चाहिये ।

शुनां च पतितानां च स्वपचां * पापरोगिणाम् ॥
वायसानां कृमीणां च शनकैर्निर्वपेद्भुवि ॥ १ ॥

अनेन षड्भागान् भूमौ दद्यात् । एवं सर्वप्राणिभ्यो भागान् विभज्य दत्त्वा च तेषां प्रसन्नतां सम्पादयेत् ।

भाषार्थ

कुत्तों, कंगालों, कुष्ठी आदि रोगियों, काक आदि पक्षियों और चींटी आदि कृमियों के लिये भी छः भाग अलग २ बांट के देदेना और उनकी प्रसन्नता करना अर्थात् सब प्राणियों को मनुष्यों से सुख होना चाहिये । यह वेद और मनुस्मृति की रीति से बलिवैश्वदेव पूरा हुआ ॥ इति बलिवैश्वदेवविधिः समाप्तः ॥

---

* मनौ श्वपचामिति पाठः ॥ अ० ३ । श्लो० ९२ ॥

अथ पञ्चमोऽतिथियज्ञः प्रोच्यते । यत्रातिथीनां सेवनं यथावत् क्रियते तत्र सर्वाणि सुखानि भवन्तीति । अथ के अतिथयः ? । ये पूर्णविद्यावन्तः, परोपकारिणो, जितेन्द्रिया, धार्मिकाः, सत्यवादिनश्छलादिदोषरहिता, नित्यभ्रमणकारिणो मनुष्यास्तानतिथय इति कथयन्ति । अत्रानेके प्रमाणभूता वैदिकमन्त्राः सन्ति । परन्त्वत्र संक्षेपतो द्वावेव लिखामः ।

तद्यस्यैवं विद्वान् व्रात्योऽतिथिर्गृहानागच्छेत् ॥ १ ॥ स्वयमेनमभ्युदेत्य ब्रूयाद्, व्रात्य क्वाऽवात्सीर्व्रात्योदकं, व्रात्य तर्पयन्तु, व्रात्य यथा ते प्रियं तथास्तु, व्रात्य यथा ते वशस्तथास्तु, व्रात्य यथा ते निकामस्तथास्त्विति ॥ २ ॥ अथ० कां० १५ । अनु० २ । सू० ११ । मं० १ । २ ॥

भाष्यम्

(तद्य०) यः पूर्वोक्तविशेषणयुक्तो विद्वान् (व्रात्यः०) महोत्तमगुणविशिष्टः सेवनीयोऽतिथि,रर्थाद्यस्य गमनागमनयोरनियता तिथिः, किन्तु स्वेच्छया कस्मादागच्छेद् छेच्च ॥ १ ॥ स यदा यदा गृहस्थानां गृहेषु प्राप्नुयात् (स्वयमेनम०) तदा गृहस्थोऽत्यन्तप्रेम्णोत्थाय नमस्कृत्य च तं महोत्तमासने निषादयेत् । ततो यथायोग्यं सेवां कृत्वा तदनन्तरं तं पृच्छेत् । (व्रात्य क्वावात्सीः) हे पुरुषोत्तम ! त्वं कुत्र निवासं कृतवान् । (व्रात्योदकं) हे अतिथे ! जलमेतद् गृहाण । (व्रात्य तर्पयन्तु) यथा भवन्तः स्वकीयसत्योपदेशेनास्मानस्माकं मित्रादींश्च तर्प्पयन्ति तथाऽस्मदीया भवन्तं च । (व्रात्य यथा०) हे विद्वन् ! यथा भवतः प्रसन्नता स्यात्तथा वयं कुर्य्याम । यद्वस्तु भवत्प्रियमस्ति तस्याज्ञां कुरु । (व्रात्य यथा ते) हे अतिथे ! भवान् यथेच्छति तथैव वयं तदनुकूलतया भवत्सेवाकरणे निश्चिनुयाम । (व्रात्य यथा ते) यथा भवदिच्छापूर्तिः स्यात्तथा सेवां वयं कुर्य्याम । यतो भवान् वयं च परस्परं सेवासत्सङ्गपूर्विकया विद्यावृद्ध्या सदा सुखे तिष्ठेम ।

भाषार्थ

अब पांचवां अतिथियज्ञ अर्थात् जिस में अतिथियों की यथावत् सेवा करनी होती है उस को लिखते हैं । जो मनुष्य पूर्ण विद्वान, परोपकारी, जितेन्द्रिय, धर्मात्मा, सत्यवादी, छल कपट रहित और नित्य भ्रमण करके विद्या धर्म का प्रचार और अविद्या अधर्म की निवृत्ति सदा करते रहते हैं उनको अतिथि कहते हैं । इस में

वेदमन्त्रों के अनेक प्रमाण हैं। परन्तु उन में से दो मन्त्र यहां भी लिखते हैं। (तद्यस्यैवं विद्वान्) जिसके घर में पूर्वोक्त विशेषणयुक्त (व्रात्य) उत्तमगुणसहित सेवा करने के योग्य विद्वान् आवे तो उस की यथावत् सेवा करे और अतिथि वह कहाता है कि जिस के आने जाने की कोई तिथि दिन निश्चित न हो ॥ १ ॥ (स्वयमेनम०) गृहस्थ लोग ऐसे पुरुष को आते देखकर, बड़े प्रेम से उठ के नमस्कार कर के, उत्तम आसन पर बैठावें। पश्चात् पूछें कि आप को जल अथवा किसी अन्य वस्तु की इच्छा हो सो कहिये। और जब वे स्वस्थचित्त हो जावें तब पूछें कि (व्रात्य क्वावात्सीः) हे व्रात्य ! अर्थात् उत्तम पुरुष ! आपने कल के दिन कहां वास किया था, (व्रात्योदकं) हे अतिथे ! यह जल लीजिये और (व्रात्य तर्पयन्तु) हमको अपने सत्य उपदेश मे तृप्त कीजिये कि जिससे हमारे इष्ट मित्र लोग सब प्रसन्न होके आपको भी सेवा से संतुष्ट रक्खें ॥ (व्रात्य यथा०) हे विद्वान् ! जिस प्रकार आप की प्रसन्नता हो हम लोग वैसा ही काम करें, तथा जो पदार्थ आप को प्रिय हो उसकी आज्ञा कीजिये, और (व्रात्य यथा०) जैसे आप की कामना पूर्ण हो वैसी सेवा कीजाय कि जिस से आप और हम लोग परस्पर प्रीति और सत्सङ्गपूर्वक विद्यावृद्धि करके सदा आनन्द में रहें ॥ २ ॥

इति संक्षेपतः पंचमहायज्ञविषयः

अथ ग्रन्थप्रामाण्याप्रामाण्यविषयः

सृष्टिमारभ्याद्यपर्य्यन्तं येषां येषां स्वतःपरतःप्रमाणसिद्धानां ग्रन्थानां पक्षपातरहितै रागद्वेषशून्यैः सत्यधर्मप्रियाचरणैः सर्वोपकारकैरार्यैर्विद्वद्भिर्यथाङ्गीकारः कृतस्तथाऽत्रोच्यते । य ईश्वरोक्ता ग्रन्थास्ते स्वतःप्रमाणं कर्त्तुं योग्याः सन्ति । ये जीवोक्तास्ते परतःप्रमाणार्हाश्च । ईश्वरोक्तत्वाच्चत्वारो वेदाः स्वतःप्रमाणम् । कुतः । तदुक्तौ भ्रमादिदोषाभावात्, तस्य सर्वज्ञत्वात्, सर्वविद्यावत्त्वात्, सर्वशक्तिमत्त्वाच्च । तत्र वेदेषु वेदानामेव प्रामाण्यं स्वीकार्य्यं, सूर्यप्रदीपवत् । यथा सूर्य्यः प्रदीपश्च स्वप्रकाशेनैव प्रकाशितौ सन्तौ सर्वमूर्त्तद्रव्यप्रकाशकौ भवतः, तथैव वेदाः स्वप्रकाशेनैव प्रकाशिताः सन्तः सर्वानन्यविद्याग्रन्थान् प्रकाशयन्ति । ये ग्रन्था वेदविरोधिनो वर्त्तन्ते नैव तेषां प्रामाण्यं स्वीकर्त्तुं योग्यमस्ति । वेदानां

तु खलु अन्येभ्यो ग्रन्थेभ्यो विरोधादप्यप्रामाण्यं न भवति, तेषां स्वतःप्रामाण्यात्तद्भिन्नानां ग्रन्थानां वेदाधीनप्रामाण्याच्च । ये स्वतःप्रमाणभूता मन्त्रभागसंहिताख्याश्चत्वारो वेदा उक्तास्तद्भिन्नास्तद्व्याख्यानभूता ब्राह्मणग्रन्था वेदानुकूलतया प्रमाणमर्हन्ति, तथैवैकादशशतानि सप्तविंशतिश्च वेदशाखा वेदार्थव्याख्याना अपि वेदानुकूलतयैव प्रमाणमर्हन्ति । एवमेव यानि शिक्षा कल्पोऽथ व्याकरणं निरुक्तं छन्दो ज्योतिषमिति षडङ्गानि, तथाऽऽयुर्वेदो वैद्यकशास्त्रम्, धनुर्वेदः शस्त्रास्त्रराजविद्या, गान्धर्ववेदो गानविद्या, अर्थवेदश्च शिल्पशास्त्रं, चत्वार उपवेदा अपि । तत्र चरकसुश्रुतनिघण्ट्वादय आयुर्वेदे ग्राह्याः । धनुर्वेदस्य ग्रन्था प्रायेण लुप्ताः सन्ति । परन्तु तस्य सर्वविद्याक्रियावयवैः सिद्धत्वादिदानीमपि साधयितुमर्हाः सन्ति । आङ्गिरःप्रभृतिभिर्निर्मिता धनुर्वेदग्रन्था बहव आसन्निति । गान्धर्ववेदश्च सामगानविद्यादिसिद्धः । अर्थवेदश्च विश्वकर्मत्वष्टृमयकृतश्चतसृसंहिताख्यो ग्राह्यः ।

भाषार्थ

जो २ ग्रन्थ सृष्टि की आदि से लेके आज तक पक्षपात और रागद्वेषरहित सत्यधर्मयुक्त सब लोगों के प्रिय प्राचीन विद्वान् आर्य्य लोगों ने (स्वतःप्रमाण) अर्थात् अपने आप ही प्रमाण, परतःप्रमाण अर्थात् वेद और प्रत्यक्षानुमानादि से प्रमाणभूत हैं जिन को जिस प्रकार करके जैसा कुछ माना है उनको आगे कहते हैं। इस विषय में उन लोगों का सिद्धान्त यह है कि ईश्वर की कही हुई जो चारों मन्त्रसंहिता हैं वे ही स्वयंप्रमाण होने योग्य हैं अन्य नहीं । परन्तु उन से भिन्न भी जो जो जीवों के रचे हुए ग्रन्थ हैं वे भी वेदों के अनुकूल होने से परतःप्रमाण के योग्य होते हैं । क्योंकि वेद ईश्वर के रचे हुए हैं और ईश्वर सर्वज्ञ सर्वविद्यायुक्त तथा सर्वशक्तिवाला है, इस कारण से उस का कथन ही निर्भ्रम और प्रमाण के योग्य है। और जीवों के बनाये ग्रन्थ स्वतःप्रमाण के योग्य नहीं होते, क्योंकि वे सर्वविद्यायुक्त और सर्वशक्तिमान् नहीं होते । इसलिये उनका कहना स्वतःप्रमाण के योग्य नहीं हो सकता । ऊपर के कथन से यह बात सिद्ध होती है कि वेदविषय में जहां कहीं प्रमाण की आवश्यकता हो वहां सूर्य्य और दीपक के समान वेदों का ही प्रमाण लेना उचित है । अर्थात् जैसे सूर्य्य और दीपक अपने ही प्रकाश से प्रकाशमान होके सब क्रिया वाले द्रव्यों को प्रकाशित कर देते हैं वैसे ही वेद भी अपने प्रकाश से प्रकाशित होके अन्य ग्रन्थों का भी प्रकाश करते हैं । इससे यह सिद्ध हुआ कि जो जो ग्रन्थ वेदों

से विरुद्ध हैं वे कभी प्रमाण वा स्वीकार करने के योग्य नहीं होते। और वेदों का अन्य ग्रन्थों के साथ विरोध भी हो तब भी अप्रमाण के योग्य नहीं ठहर सकते, क्योंकि वे तो अपने ही प्रमाण से प्रमाणयुक्त हैं। इसी प्रकार ऐतरेय, शतपथ ब्राह्मणादि ग्रन्थ जो वेदों के अर्थ और इतिहासादि से युक्त बनाये गये हैं वे भी परतःप्रमाण अर्थात् वेदों के अनुकूल ही होने से प्रमाण और विरुद्ध होने से अप्रमाण हो सकते हैं। मन्त्रभाग की चार संहिता कि जिनका नाम वेद है वे सब स्वतःप्रमाण कहे जाते हैं। और उनसे भिन्न ऐतरेय शतपथ आदि प्राचीन सत्य ग्रन्थ हैं वे परतःप्रमाण के योग्य हैं। तथा ग्यारहसौ सत्ताईस (११२७) चार वेदों की शाखा वेदों के व्याख्यान होने से परतःप्रमाण। तथा (आयुर्वेदः) अर्थात् जो वैद्यकशास्त्र चरक सुश्रुत और धन्वन्तरिकृत निघण्टु आदि ये सब मिलकर ऋग्वेद का उपवेद कहाता है।(धनुर्वेदः) अर्थात् जिसमें शस्त्र अस्त्रविद्या के विधानयुक्त अङ्गिरा आदि ऋषियों के बनाये ग्रन्थ जो कि अङ्गिरा भरद्वाजादिकृत संहिता हैं जिनसे राजविद्या सिद्ध होती है परन्तु वे ग्रन्थ प्रायः लुप्त से हो गये हैं। जो पुरुषार्थ से इसको सिद्ध किया चाहे तो वेदादि विद्या-पुस्तकों से साक्षात् कर सकता है। (गान्धर्ववेदः) जो कि सामगान और नारदसंहिता आदि गानविद्या के ग्रन्थ हैं। (अर्थवेदः) अर्थात् शिल्पशास्त्र जिसके प्रतिपादन में विश्वकर्म्मा, त्वष्टा, देवज्ञ और मयकृत संहिता रची गई हैं ये चारों उपवेद कहाते हैं।

शिक्षा पाणिन्यादिमुनिकृता। कल्पो मानवकल्पसूत्रादिः। व्याकरणमष्टाध्यायीमहाभाष्यधातुपाठोणादिगणप्रातिपदिकगणपाठाख्यम्। निरुक्तं यास्कमुनिकृतं निघण्टुसहितं चतुर्थं वेदाङ्गं मन्तव्यम्। छन्दः पिङ्गलाचार्य्यकृतसूत्रभाष्यम्। ज्योतिषं वसिष्ठाद्यृष्युक्तं रेखाबीजगणितमयं चेति वेदानां षडङ्गानि सन्ति। तथा षडुपाङ्गानि। तत्राद्यं कर्मकाण्डविधायकं धर्मधर्मिव्याख्यामयं व्यासमुन्यादिकृतभाष्यसहितं जैमिनिमुनिकृतसूत्रं पूर्वमीमांसाशास्त्राख्यं ग्राह्यम्। द्वितीयं विशेषतया धर्मधर्मिविधायकं प्रशस्तपादकृतभाष्यसहितं कणादमुनिकृतं वैशेषिकशास्त्रम्। तृतीयं पदार्थविद्याविधायकं वात्स्यायनभाष्यसहितं गोतममुनिकृतं न्यायशास्त्रम्। चतुर्थं यत्त्रिभिर्मीमांसावैशेषिकन्यायशास्त्रैः सर्वपदार्थानां श्रवणमननेनानुमानिकं ज्ञानतया निश्चयो भवति, तेषां साक्षाज्ज्ञानसाधनमुपासनाविधायकं व्यासमुनिकृतभाष्यसहितं पतञ्जलिमुनिकृतं योगशास्त्रम्। तथा पञ्चमं तत्त्वपरिगणनविवेकार्थं भागुरिमुनिकृतभाष्यसहितं कपिलमुनिकृतं सांख्यशास्त्रम्। षष्ठं बौद्धायनवृत्त्यादि-

व्याख्यानसहितं व्यासमुनिकृतं वेदान्तशास्त्रम् । तथैव ईशकेनकठप्रश्नमुण्डकमाण्डूक्यतैत्तिरीयैतरेयछान्दोग्यबृहदारण्यका दशोपनिषदश्चोपाङ्गानि च ग्राह्याणि । एवं चत्वारो वेदाः सशाखा व्याख्यानसहिता,श्चत्वार उपवेदाः, षड् वेदाङ्गानि, षट् च वेदोपाङ्गानि मिलित्वा षड् भवन्ति । एतैरेव चतुर्दशविद्या मनुष्यैर्ग्राह्या भवन्तीति वेद्यम् ।

भाषार्थ

इसी प्रकार मन्वादिकृत मानवकल्पसूत्रादि, आश्वलायनादिकृत श्रौतसूत्रादि, पाणिनिमुनिकृत अष्टाध्यायी धातुपाठ गणपाठ उणादिपाठ और पतञ्जलिमुनिकृत महाभाष्य पर्यन्त व्याकरण । तथा यास्कमुनिकृत निरुक्त और निघण्टु, वसिष्ठमुनि आदि कृत ज्योतिष सूर्य्यसिद्धान्त आदि और (छन्दः) पिङ्गलाचार्य्यकृत सूत्रभाष्य आदि ये वेदों के छः अङ्ग भी परतःप्रमाण के योग्य और ऐसे ही वेदों के छः उपाङ्ग अर्थात् जिन का नाम षट्शास्त्र है, उन में से एक व्यासमुनि आदि कृत भाष्यसहित जैमिनिमुनिकृत पूर्वमीमांसा, जिसमें कर्मकाण्ड का विधान और धर्मधर्मि दो पदार्थों से सब पदार्थों की व्याख्या की है, दूसरा वैशेषिक शास्त्र जो कि कणादमुनिकृत सूत्र और गोतममुनिकृत प्रशस्तपादभाष्यादिव्याख्यासहित, तीसरा न्यायशास्त्र जो कि गोतममुनिप्रणीत सूत्र और वात्स्यानमुनिकृतभाष्यसहित, चौथा योगशास्त्र जो कि पतञ्जलिमुनिकृत सूत्र और व्यासमुनिकृत भाष्य सहित, पांचवां सांख्यशास्त्र जो कि कपिलमुनिकृत सूत्र और भागुरिमुनिकृतभाष्य सहित और छठा वेदान्तशास्त्र जो कि ईश केन कठ प्रश्न मुण्डक माण्डूक्य तैत्तिरीय ऐतरेय छान्दोग्य और बृहदारण्यक ये दश उपनिषद् तथा व्याससुनिकृत सूत्र जो कि बौद्धायनवृत्त्यादिव्याख्या सहित वेदान्तशास्त्र है, ये छः वेदों के उपाङ्ग कहाते हैं इसका यह अभिप्राय है कि जो शाखा, शाखान्तरव्याख्या सहित चार वेद, चार उपवेद, छः अङ्ग और उपाङ्ग हैं ये सब मिल के चौदह विद्या के ग्रन्थ हैं ।

एतासां पठनाद्यथार्थं विदि(त)तत्त्वान्मानसबाह्यज्ञानक्रियाकाण्डसाक्षात्करणाच्च महाविद्वान् भवतीति निश्चेतव्यम् । एत ईश्वरोक्ता वेदाः, तद्व्याख्यानमया ब्राह्मणादयो ग्रन्था, आर्षा, वेदानुकूलाः सत्यधर्मविद्यायुक्ता युक्तिप्रमाणसिद्धा एव माननीयाः सन्ति । नैवंतेभ्यो भिन्नाः, पक्षपातक्षुद्रविचारस्वल्पविद्याऽधर्माचरणप्रतिपादना, अनाप्तोक्ता, वेदार्थविरुद्धा, युक्तिप्रमाणविरहा ग्रन्थाः केनापि कदाचि-